प्रकाशक—
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय,
पो० बक्स नं० ७०,
ज्ञानवापी बनारस।

मुद्रक—
विद्यामन्दिर प्रेस लि०
मान-मन्दिर, बनारस।

विषय-सूची

—:o:—

—:o:—

प्राक्कथन

संसार के सभी देशों और राष्ट्रों में समय-समय पर ऐसी विभूतियां जन्म-ग्रहण करती रहती हैं जिनके कार्य-कलाप कवियों और लेखकों द्वारा शताब्दियों तक गाये और लिखे जाते हैं, जिससे अनुप्राणित होकर मानव-जाति महत्ता और मर्यादा प्राप्त करती है। देश का अभ्युत्थान और सामाजिक नव-निर्माण इन्हीं महापुरुषों के ऊपर निर्भर रहता है। देश के भावी कर्णधार नवयुवकों को इन महान आत्माओं की जीवनी से नव-जीवन और स्फूर्त्ति प्राप्त होती है, जिससे राष्ट्र सबल और गौरवशाली होता है। प्रस्तुत संकलन इसी दृष्टिकोण को अपना कर किया गया है। इसमें आधुनिक युग के कुछ उन नर-रत्नों का जीवन-वृत्त संस्मरण तथा आत्मकथा के रूप में संकलित हुआ है जिनकी जगमग ज्योति काल की अनिवार्य छाया से जरा भी धुंधली नहीं हो पाई है। उनकी ज्वलन्त मूर्त्तियां प्रत्येक सहृदय भारतीय के मानस-मन्दिर में ऊँचे आसन पर विराजमान हैं। संकलन को बालोपयोगी बनाने के लिए एक ही व्यक्ति के आत्म-चरित और संस्मरण को लम्बा न कर अनेक व्यक्तियों के संस्मरण और आत्म-चरित को स्थान दिया गया है जिससे बालकों का जी भी न ऊबे और साथ ही उन्हें आत्म-कथा और संस्मरण लेखन-शैली की विभिन्नता का भी ज्ञान हो। प्रारम्भ में विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर का आत्म-चरित अवश्य कुछ लम्बा हो गया है किन्तु वह इतना रोचक है कि उससे जी ऊब ही नहीं सकता।

संकलन में जिन लेखकों अथवा प्रकाशकों की रचनाएँ संगृहीत हुई हैं, संकलयिता उनका हृदय से आभार स्वीकार करता है।

—संकलयिता

संस्मरण और आत्मकथाएँ

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ

[डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर बंगला भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि थे। सुन्दर काव्य रचना के ही कारण उन्हें नोबुल पुरस्कार प्राप्त हुआ था। उनकी गद्य और पद्य रचनाओं का अनुवाद अनेक विदेशी भाषाओं में हुआ है, जिससे उनकी लोकप्रियता का ज्ञान होता है। उन्होंने ही शान्ति-निकेतन, नामक आदर्श गुरुकुल की स्थापना की। उसके वे आजीवन कुलपति रहे। उनका रूप बहुत ही भव्य था। एक बार वे काशी पधारे थे। उस समय उनका दर्शन करने पर पंडित वेणीमाधव शर्मा के हृदय में जो सुन्दर भाव जगे उसे उन्होंने शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त कर बड़ा ही सुन्दर शब्दचित्र प्रस्तुत किया है, जिसका रसास्वाद आगे की पंक्तियों द्वारा होगा। शर्माजी हिन्दी के सुविख्यात कवि और विद्वान् श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय के पौत्र हैं। इनकी लेखनशैली अपूर्व और अनुकरणीय है।]

आर्यों के सौन्दर्य का प्रतीक। सरसीरुह लोचन। कीर की-सी नासिका। शरत्कालीन शुभ्र-वारिदों के से श्वेत-केश। महर्षियों की-सी दाढ़ी, रेशम-सी चमकीली और कोमल। रवीन्द्र के हर कार्य में कलाकार का विचित्र आभास। चाल में गति और लय का समन्वय। कोमलता की सजीव प्रतिभा कवीन्द्र रवीन्द्र।

प्रातःकाल का समय। हिन्दू विश्वविद्यालय का अतिथि-भवन। सूर्य देव की रश्मियाँ संसार को स्वर्ण-रञ्जित कर रही थीं। पक्षी मस्त हो वृक्षों पर कलरव कर रहे थे। कविवर अपनी कल्पना में लीन उस भवन की छत पर टहल रहे थे। रह-रह कर शुभ्र आकाश की ओर नेत्र उठाते। दो क्षणों के पश्चात् नेत्र नीचे हो जाते।

रेशमी अंगरखा। रेशमी धोती। पैरों में मखमली जूती और कन्धों तक लहराते श्वेत-केश।

लड़कों का समुदाय अतिथि भवन की ओर बढ़ता चला आ रहा था। लड़के मन्त्रमुग्ध हो गुरुदेव के सम्मुख नतमस्तक हो गये। कवीन्द्र-रवीन्द्र की जय गूंजने लगी। कवीन्द्र ने ऊपर से ही हाथ जोड़ कर अभिवादन का उत्तर दिया। दाढ़ी-मूछों के बीच से हल्की मुसकान झलकने लगी। स्वच्छ कमल-नेत्र स्नेह रस से छलछला उठे।

+ + +

बेसेण्ट कालेज का उद्घाटन दिवस। कवीन्द्र-रवीन्द्र उद्घाटन करने के लिए पधारे थे। श्वेत बालों पर गाढ़े लाल रंग की ऊँची मखमली टोपी, रेशमी अंगरखा, रेशमी धोती, नीले रङ्ग की जूतियां। मन्द गति से आकर गुरुदेव मखमली गद्दों और फूलों से सजे आसन पर विराजमान हुए। राज-घाट पर गङ्गा के उत्तर की ओर बेसेण्ट-कालेज का रमणीय दृश्य है। प्राचीन बड़े-बड़े सघन वृक्षों ने उसे अद्भुत सौन्दर्य प्रदान किया है गुरुदेव बेसेण्ट कालेज का स्थान देख कर मोहित हो गये। उन्हें वहां प्रकृति की छटा बड़ी हृदयग्राही प्रतीत हुई। ऋषिकुल आश्रमों की-सी शान्ति और शान्त वातावरण ने कवीन्द्र को विह्वल कर दिया।

उत्सव में सम्मिलित नर-नारी गुरुदेव को एक टक देख रहे थे। फोटो-ग्राफर उनकी क्षण-क्षण की बदलती मुद्राओं के चित्र ले रहे थे। सुरीली ध्वनि में गुरुदेव का भाषण बहुत ही प्रभावोत्पादक हुआ। शिक्षा का विशिष्ट ढंग जो गुरुदेव ने अपने स्थापित किये विद्यालय शान्ति-निकेतन में रखा है, उसी के विषय में उन्होंने अपने विचार प्रकट किये। सारी जनता चुपचाप बैठी उनकी बातों को ध्यान से देख और सुन रही थी।

सभा विसर्जित हुई। लड़के-लड़कियां अपनी कापियां लिये गुरुदेव के पास पहुँचे। वे एक के बाद एक को हस्ताक्षर देते जाते और वे अपनी कापियां लेकर चले जाते। गुरुदेव तन्मय चुपचाप हस्ताक्षर कर रहे थे।

रवीन्द्र और राजेन्द्र

[स्वतन्त्र भारत के सर्वप्रथम, लोकप्रिय राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू ने विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर सम्बन्धी कुछ मधुर और उपदेशपूर्ण संस्मरण लिखे हैं, उन्हें ही यहां उद्धृत किया जा रहा है।]

जब मुझे पहले-पहल कवीन्द्र रवीन्द्र के दर्शन हुए थे, तब मैं कलकत्ते के प्रेसिडेंसी कालेज में विद्यार्थी था। कालेज की यूनियन की ओर से एक स्टीमर-पार्टी की आयोजना की गई और उसमें कालेज के प्रोफेसर और विद्यार्थियों के अतिरिक्त बाहर के कतिपय गण्य-मान्य सज्जन भी आमन्त्रित किये गये थे। उनमें कवीन्द्र भी थे और वे प्रायः ४-५ घंटों तक हम सब के बीच उस स्टीमर पर रहे। कालेज के विद्यार्थी उनकी कविताएँ बहुत पढ़ा करते थे और मैं भी सुना करता था। उनमें दो विचारों के लोग थे। कुछ तो उनकी कविता पर इतने मुग्ध थे कि वे उनको सबसे बड़ा कवि मानते थे। कुछ उनकी कविता की फब्तियां उड़ाया करते थे और मुझे आज भी स्मरण है कि आपस में कभी-कभी गर्मागर्म बहस हुआ करती थी। ऐसे एक प्रसिद्ध और बड़े कवि को अपने बीच में पाकर हम विद्यार्थीगण अपने को बहुत भाग्यशाली मानने लगे। विद्यार्थी तथा दूसरे सब लोगों ने कवीन्द्र से आग्रह किया कि वे संगीत सुनावें। उन्होंने अपने सहज स्वभाव से इस आग्रह को मान लिया। यद्यपि आज मुझे याद नहीं है कि कौन-सा गीत उन्होंने गाया; पर अभी भी वह सुरीली आवाज भूलती नहीं है। हम लोगों ने उनसे कई गीत सुने।

उन दिनों का एक दूसरा संस्मरण और है। बंगाल में स्वदेशी की धूम थी। कवीन्द्र ने 'समाज' नामक अपना लेख एक सार्वजनिक सभा में पढ़ा था। उसके बाद तो वह पुस्तकाकार छप गया और शायद उसके कई संस्करण भी हो गए होंगे। जब वह पहले-पहल पढ़ा गया था, उसने बड़ी खलबली मचा दी थी, और मुझे याद है कि एक बड़ी सभा में कवीन्द्र ने उसे अपनी सुरीली और भरी आवाज़ से स्वयं पढ़कर सुनाया था और हमारे दिल पर उसका बड़ा असर पड़ा था।

इस प्रकार यद्यपि दूर से उनके दर्शनों का सौभाग्य मुझे बहुत दिन पहले अपने विद्यार्थी-जीवन में ही मिला था, पर निकट का साक्षात् बहुत दिनों के बाद यरवदा-जेल में गांधीजी के अनशन समाप्त करने के समय हुआ। ब्रिटिश प्रधानमंत्री श्री मैकडोनल्ड ने साम्प्रदायिक फैसला (Communal Decision) देकर केवल हिन्दुओं और मुसलमानों में ही बराबर के लिए फूट को स्थायी रूप देने का प्रबन्ध नहीं किया, बल्कि अगर वह फैसला पूरा-का-पूरा रह जाता, तो हिन्दुओं में भी सवर्ण और असवर्ण के बीच एक बड़ी खाई हमेशा के लिए कायम हो जाती। गांधीजी ने कहा था कि वे उस फैसले को अपनी जान देकर भी रद्द करवायेंगे। उसी भीषण प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए उन्होंने अनशन किया था। जब हरिजन लोगों के साथ समझौता हो गया, तब उन्होंने अनशन तोड़ा। गुरुदेव अनशन की खबर सुन चिन्तित होकर यरवदा पहुँचे, और उनके यरवदा पहुँचते ही खबर आ गई कि मि० मैकडोनल्ड ने समझौता स्वीकार कर लिया और अब गांधीजी को अनशन जारी रखने की आवश्यकता नहीं है। गुरुदेव ने अपने हाथों से ही नारंगी का रस देकर उस उपवास को समाप्त कराया था और रस देने के पहले एक मर्मस्पर्शी प्रार्थना भी की थी। उस जेलखाने के भीतर के दृश्य को उन दिनों के लोगों ने बहुत भव्य शब्दों में दिखाया है और स्वयं उन्होंने भी उसका वर्णन लिखा है।

उसी अवसर पर पूना में एक बड़ी सभा हुई, जिसमें गुरुदेव पधारे थे। सभा में भीड़ बहुत बड़ी थी। उस भीड़ में गुरुदेव को बहुत कष्ट हुआ, और मैं देखता था कि उनके चेहरे पर उस प्रेम-भरे, पर नासमझ, प्रदर्शन का असर बहुत पड़ रहा था। वहां पर मैंने देखा कि अब उनकी अवस्था ऐसी नहीं रही कि वे बहुत बड़ी भीड़ में जाकर भाषण दे सकें।

वैसा ही दृश्य कई वर्षों के बाद मैंने पटना स्टेशन पर देखा, जब वे एक बार पटना आए। वहां भी उनके स्वागत के लिए बहुत बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गई थी और डब्बे में से उनको सुरक्षित उतारना कठिन हो गया था। भीड़ लगाने वालों में मैं भी एक था। बड़ी मुश्किल से लोगों की कृपा से मैं डब्बे तक पहुँचाया गया और उनको सुरक्षित वहां से लाकर मोटर में बिठा सका।

पटने की इस यात्रा में उन्होंने शान्तिनिकेतन के लिए चन्दा जमा किया और इसके लिए वहां नृत्य-कला का एक अभूतपूर्व प्रदर्शन भी किया। मुझसे बहुत देर तक शान्तिनिकेतन सम्बन्धी बातें भी एकान्त में हुईं। उस समय शान्तिनिकेतन-सम्बन्धी आर्थिक चिंता में वे थे, और उसे दूर करने के लिए ही वे शान्तिनिकेतन के बालक-बालिकाओं के साथ निकले थे। मैं उनको रंगमंच पर कुर्सी पर बैठे देखता था और बीच-बीच में उसकी सुरीली आवाज सुनता था। कभी-कभी वे खुलकर कुछ गा दिया करते थे। जो असर उसका दिल पर पड़ता था, वह तो पड़ता ही था; पर म बारबार दूसरी सोच में पड़ा था। हमारा सौभाग्य है—मैं सोचता था—कि आज भी हमारे बीच में ईश्वर की दया से एक विश्व कवि मौजूद है, जिसने अपनी वाणी से अपने को ही नहीं, इस देश की कीर्ति को भी अमर बना दिया है। कला की सेवा के लिए उसका रंगमंच पर आना स्वाभाविक और उत्साहवर्द्धक है; पर क्या उसको अपनी प्यारी संस्था के लिए, जिसके निमित्त उसने अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है, इस प्रकार

रंगमंच पर आकर अपनी वृद्धावस्था में इतना कष्ट उठाना देश के लिए शोभा की बात है? क्या यह देश इस योग्य है कि ऐसा महान् व्यक्ति उसकी सेवा करे। मुझे बहुत दुःख हुआ। मैं वहां से दिल्ली गया, जहां गांधीजी उन दिनों ठहरे हुए थे। मैंने उनसे ये बातें कहीं, और कुछ दिनों के बाद जब हम वहां ही थे, गुरुदेव अपने दलबल के साथ वहां भी उसी निमित्त पहुंचे। गांधीजी ने उनके वहां आने का समाचार सुनकर उनकी यात्रा का उद्देश्य जानकर पहले से ही मित्रों से बातें शुरू कर दी थीं, जिससे उनके वहां पहुंचने पर उस समय की उनकी आर्थिक चिंता दूर हो गई।

यद्यपि मैं दूर से ही उनकी पूजा किया करता था, फिर भी उनकी कृपा मुझपर न जाने क्यों और कैसे बनी रहती थी उन्होंने मुझे शान्तिनिकेतन आने के लिए विशेष रूप से आज्ञा दी, और मैं वहां दो-तीन दिनों तक जाकर रहा भी। वे दिन मेरे लिए चिरस्मरणीय हैं, क्योंकि मैंने उन संस्थाओं को केवल अच्छी तरह से देखा ही नहीं; बल्कि वहां की सब बातों का अध्ययन करने का सुअवसर भी मुझे मिला। आज भी जब वे इस संसार में नहीं रहे, मैं अपने से वही प्रश्न पूछता हूं, जो मैंने पटने में थियेटर में बैठे-बैठे और उनकी कला देखते-देखते पूछा था—क्या इस देश के लिए ऐसे महान् व्यक्ति की एक महान् कीर्ति को स्थायी रूप से कायम रखना कोई इतनी बड़ी और कठिन समस्या है? क्या जिस संस्था के लिए कवीन्द्र ने सर्वस्व त्याग दिया, उसको देश उन्नत और उचित स्मारक-रूप देकर हमेशा के लिए कायम नहीं रखेगा? मैं तो मानता हूं कि उनकी कृतियों ने उनको और इस देश को चिरकाल के लिए अमर बना दिया है; तो भी उनकी कृतियों का सच्चा स्मारक हम उनके द्वारा शान्तिनिकेतन में स्थापित संस्थाओं में ही देख सकते हैं, और उनको ही पुष्ट और दृढ़ बनाना उनको ही अर्थचिन्ता से मुक्त करना—सब से सुन्दर और सबसे योग्य स्मारक होगा। इसके लिए जो प्रयत्न हो रहा है वह स्तुत्य है और मुझे विश्वास है कि देश इस प्रकार से इस ऋषि-ऋण से अपने आप को कुछ हद तक मुक्त कर सकेगा।

अमर कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बचपन की

आत्मकथा

मैंने जन्म लिया था पुराने कलकत्ते में। शहर में उन दिनों छकड़े छड़-छड़ करते हुए धूल उड़ाते दौड़ा करते और रस्सीवाले चावुक घोड़ों की हड्डी निकली पीठ पर सड़ासड़ पड़ा करते। न ट्राम थी, न बस और न मोटर-गाड़ी। उन दिनों कामकाज की ऐसी दम फुला देनेवाली ठेलमठेल नहीं थी। इतमीनान से दिन कटा करते थे। बाबू लोग तम्बाकू का कश खींचकर पान चबाते-चबाते आफिस जाते—कोई पालकी में और कोई साझे की गाड़ी में। जो लोग पैसेवाले थे, उनकी गाड़ियों पर तमगे लगे होते। चमड़े के आधे घूंघटवाले कोचबक्स पर कोचवान बैठा करता, जिसके सिर पर बांकी पगड़ी लहराती रहती थी। पीछे की ओर दो-दो सईस खड़े रहते, जिनकी कमर में चँवर झूलते होते। स्त्रियों का बाहर आना-जाना बन्द दरवाजे की पालकी के दम घुटा देनेवाले अँधेरे में हुआ करता। गाड़ी पर चढ़ना शर्म की बात थी। धूप और वर्षा में उनके सिर पर छाता नहीं लग सकता था। किसी के बदन पर शेमीज और पैर में जूता दिख गया तो इसे मेमसाहबी फैशन कहा जाता। मतलब यह होता कि इसने लाज-हया घोलकर पी ली है। कोई स्त्री यदि अचानक पर-पुरुष के सामने पड़ जाती, तो उसका घूंघट सटाक-से नाक की फुनगी को पार कर जाता और वह जीभ दांतों तले दबाकर झट पीठ फिरा देती। घर में जैसे उनका दरवाजा बन्द हुआ करता, वैसे ही बाहर निकलने की पालकी में भी। बड़े आदमियों की बहू-बेटियों की पालकी पर एक मोटा घटाटोप-सा पर्दा पड़ा रहता, जो देखने म चलते-फिरते कब्रगाह के समान लगता। साथ-साथ पीतल की गोपवाली लाठी लिए दरवानजी चला करते। इनका काम था दरवाजे पर बैठकर घर अगोरना, गलमुच्छे सहलाना और रिश्तेदारी में स्त्रियों को पहुँ-

नागा और त्योहार के दिन बन्द पालकी समेत मालकिन को गंगा में से डुबकी लगवा लाना। दरवाजे पर फेरीवाले अपना सन्दूकचा सजा के आया करते, जिसमें शिवनन्दन का भी हिस्सा हुआ करता। और फिर भाड़े वाली गाड़ी का गाड़ीवान था, जो बांट-बखरे के मामले में नाराज होता तो ड्योढ़ी के सामने पूरा टंट खड़ा कर देता। बीच-बीच में हमारा पहलवान जमादार शोभाराम बांह कसता, वजनदार मुगदर घुमाता, बैठा-बैठा भंग घोटता और कभी-कभी बड़े आराम से पत्तों समेत कच्ची मूली चबा जाता; और हम-लोग उसके कान के पास जोर से चिल्ला उठते—'राधाकृष्ण'। वह जितना ही 'हां-हां' करके हाथ-पैर पीटता, उतनी ही हमारी जिद बढ़ती जाती। इष्ट देवता का नाम सुनने की यह उसकी फंदी थी।

उन दिनों शहर में न तो गैस थी, न बिजली-बत्ती। बाद में जब मिट्टी के तेल का उजेला आया तो हम उसका तेज देखकर हैरान हो रहे। सांझ को फराश आता और घर-घर रेंड़ी के तेल का दीया जलाया जाता। हमारे पढ़ने के घर में दो-दो बातियों का एक दीया दीवट पर जला करता।

मास्टर साहब टिमटिमाते प्रकाश में प्यारी सरकार की फर्स्ट-बुक पढ़ाया करते। मुझे पहले तो जम्हाई आती, फिर नींद, और फिर आंख की मीजाई शुरू होती। बार-बार सुनना पड़ता कि मास्टर साहब का कोई एक दूसरा विद्यार्थी सतीश—लड़का क्या है, सोने का टुकड़ा है। पढ़ाई में ऐसा दिल लगाता है कि लोग अचरज करते हैं। नींद आती है तो आंखों में सुर्ती की बुकनी रगड़ लेता है। और मैं? न कहना ही अच्छा है। सब लड़कों में अकेले मूर्ख होकर रहने के समान गन्दी भावना भी मुझे होश में न ला पाती। रात के नौ बजे जब आंखें नींद से झुलझुला जातीं, तब छुट्टी मिलती। बाहर के बैठकखाने से घर के भीतर जाने के तंग रास्ते पर झिलमिल (वेनेशियन ब्लाइंड) का पर्दा टंगा होता और ऊपर टिमटिमाते

हुए प्रकाश के लालटेन झूला करते। जब मैं उधर से गुजरता तब दिल कहता कि न जाने क्या पीछा कर रहा है। पीठ सनसना उठती। उन दिनों भूत-प्रेत किस्से-कहानियों में रहा करते और आदमी के मन के कोने-कोने में विराजमान होते। कोई महरी अचानक चुड़ैल की नकियान सुनाती और धड़ाम से पछाड़ खाकर गिर पड़ती। यह भूतनी ही सबसे अधिक बदमिजाज थी। यह मछली पर ज्यादा चोट करती थी। घर के पश्चिमी कोने पर एक घने पत्तोंवाला बादाम का पेड़ था। एक पैर इसकी डाल पर और दूसरा पैर तितल्ले के कार्निस पर रखकर कोई एक मूर्त्ति प्रायः ही खड़ी रहा करती—इसे देखा है, ऐसा कहनेवाले उन दिनों अनेक थे। विश्वास करनेवाले भी कम नहीं थे। बड़े दादा के एक मित्र जब इन गप्पों को हँसकर उड़ा देते तो नौकर-चाकर समझते कि इस आदमी को धरम-करम का ज्ञान एकदम ही नहीं; जब एक दिन गर्दन मरोड़ देगा, तो सारा ज्ञान बघारना निकल जायगा। आतंक ने उन दिनों चारों ओर अपना जाल ऐसा फैला रक्खा था कि मेज के नीचे पैर रखने से पैर सनसना उठते थे।

तब पानी का नल नहीं लगा था। माघ-फागुन के महीने में कहार कांवर भर-भरकर गंगा से पानी लाते थे। एकतल्ले के अँधेरे घर में बड़े-बड़े कुंडे रखे हुए थे। इन्हीं में साल भर के लिए पानी रखा रहता। उन सीड़भरी अँधेरी कोठरियों में जो लोग डेरा डाले हुए थे, कौन नहीं जानता कि वे मुँह बाए रहते थे, आंखें उनकी छाती पर हुआ करती थीं, दोनों कान सूप के समान होते थे और दोनों पैर उल्टी तरफ मुड़े हुए होते थे। मैं उस भुतही छाया के सामने से मकान के भीतर के बगीचे की ओर जाता, तो हृदय के भीतर उथल-पुथल मच जाती, पैर में तेजी आ जाती।

उन दिनों रास्ते के किनारे-किनारे नाले बँधे हुए थे। ज्वार के समय उसीसे होकर गंगा का पानी आया करता। बाबा के जमाने से ही उस

नाले के पानी का हकदार, हमारा तालाब रहता आया था। जब किवाड़ खोल दिये जाते, तो झर-झर कल-कल करता हुआ पानी झरने के समान झरता और नीचे का हिस्सा फेन से भर जाता। मछलियों को उलटी तरफ तैरने की कसरत दिखाने की सूझती। मैं दक्षिण के बरामदे की रेलिंग पकड़कर अवाक् होकर देखा करता। आखिर उस तालाब का काल भी आ पहुँचा और उसमें गाड़ियों में भर-भर कर गन्दगी डाली जाने लगी। तालाब के पटते ही देहाती हरियाली का छायावाला वह आईना भी मानों हट गया। बादामवाला पेड़ अब भी खड़ा है; लेकिन पैर फैलाकर खड़े होने की सुविधा होते भी उस ब्रह्मदैत्य का पता अब नहीं चलता।

भीतर और बाहर प्रकाश बढ़ गया है।

पालकी दादी के जमाने की थी—काफी लम्बी-चौड़ी, नवाबी कायदे की। दोनों डण्डे आठ-आठ कहारों के कन्धे की माप के थे। हाथों में कंगन, कानों में सोने के कुण्डल और शरीर पर लाल रंग की हथकटी मिरजई पहननेवाले वे कहार भी पुरानी धन-दौलत के साथ उसी तरह लोप भी हो गए, जैसे डूबते हुए सूर्य के साथ ही रंगीन बादल। पालकी के ऊपर रंगीन लकीरों के कटाव कटे हुए थे। उसके कुछ हिस्से घिस-घिसाकर नष्ट हो गए थे। जहाँ-तहाँ दाग लगे हुए थे और भीतर के गद्दे में से नारियल के छिलकुट बाहर निकल आए थे। यह मानो इस जमाने का कोई नाम-कटा असबाब था, जो खजांची-खाने के एक कोने में डाल दिया गया था। मेरी उम्र उन दिनों सात-आठ साल की होगी। इस संसार के किन्हीं जरूरी कामों में मेरा कोई हाथ नहीं था और यह पुरानी पालकी भी सभी जरूरत के कामों से बरखास्त कर दी गई थी। इसीलिए उसपर मेरे मन का इतना खिंचाव था। यह मानो समुद्र के बीच का एक छोटा-सा टापू थी और मैं छुट्टी के दिन का रॉबिन्सन क्रूसो, जो बंद दरवाजे में गुमराह होकर चारों ओर की नजर बचाकर बैठा होता।

उन दिनों हमारा घर आदमियों से भरा था। कितने अपने, कितने पराये, कुछ ठीक नहीं। परिवार के अलग-अलग कई महकमों के दास-दासियों का शोर-गुल बराबर मचा रहता था।

सामने के आंगन से पियारी महरी कांख-तले टोकरी दबाए साग-भाजी का बाजार किए आ रही है। दुक्खन कहार कन्धे पर कांवर रखकर गंगा का पानी ले आ रहा है। तांतिन नए फैशन की पाड़वाली साड़ी का सौदा करने घर के भीतर घुसी जा रही है। माहवारी मजूरी पानेवाला दीनू सुनार, जो पास की गली में बैठा-बैठा भाथी फसफसाया करता है और घर की फर्माइशें पूरी करता है, खजांची-खाने में कान में पांख की कलम खोंसे हुए कैलाश मुखर्जी के पास अपने बकाया का दावा करने चला आ रहा है। आंगन में बैठा हुआ धुनिया पुरानी रजाई की रूई धुन रहा है। बाहर काने पहलवान के साथ मुकुन्दलाल दरवान लस्टम-पस्टम करता हुआ कुश्ती के दांव-पेंच भर रहा है। चटाचट आवाज के साथ दोनों पैरों में चपेटा मारता जा रहा है और बीस-पचीस बार लगातार डण्ड पेल लेता है। भिखारियों का दल अपने हिस्से की भीख के आसरे में बैठा हुआ है।

दिन बढ़ता जा रहा है, धूप कड़ी होती आती है, ड्योढ़ी पर घण्टा बज उठता है। पर पालकी के भीतर का दिन घण्टे का हिसाब नहीं मानता। वहां का 'बारह बजे' वही पुराने जमाने का है, जब राजभवन के सिंहासन पर सभा-भंग का डंका बजा करता, राजा चन्दन के जल से स्नान करने उठ जाते। छुट्टी के दिन दोपहरी को मैं जिनकी देख-रेख में हूं, वे सभी खा-पीकर सो रहे हैं। अकेला बैठा हूं। चलने का रास्ता मेरी ही मर्जी पर निकाला गया है। उसी रास्ते मेरी पालकी दूर-दूर के देश-देशान्तर को चली है। उन दिनों के नाम मैंने ही अपनी किताबी विद्या के अनुसार गढ़ लिये हैं। कभी-कभी रास्ता घने जंगल के भीतर घुस जाता है—(जहां) बाघ की आँखें चमक रही हैं। शरीर सनसना रहा है। साथ में विश्वनाथ शिकारी हैं। वह उसकी बन्दूक

धांय से छूटी । बस, सब चुप ! इसके बाद एक बार पालकी का चेहरा बदल गया । वह बन गई मोरपंखी बजरा, वह चली समुद्र में । किनारा दिखाई नहीं देता । डांड़ पानी में गिर रहे हैं—छप्-छप् छप्-छप् । लहरें उठ रही हैं—हिलती-डुलती, फूलती-फुफुकारती । मल्लाह चिल्ला उठते हैं—सम्हालो, सम्हालो, आंधी आई । पतवार के पास अब्दुल माझी बैठा है—नुकीली दाढ़ी, सफाचट मूछें, घुटी चांद । इसे मैं पहचानता हूं । वह दादा के लिए पद्मा में से मछली ला देता है और ले आता है कछुए के अण्डे ।

उसने मुझे एक कहानी सुनाई थी । एक दिन चैत के महीने के अन्त में जबकि वह डोंगी से मछली मारने गया था, अचानक काल-वैशाखी की आंधी आ गई ।

भयंकर तूफान ! नाव तब डूबी, अब डूबी । अब्दुल ने दांत से रस्सी पकड़ी और कूद पड़ा पानी में । तैरकर रेती पर आ खड़ा हुआ और रस्सी से खींचकर अपनी डोंगी निकाल लाया ।

कहानी इतनी जल्दी खतम हो गई, यह मुझे अच्छा नहीं लगा । नाव डूबी नहीं, यों ही बच गई, यह तो कोई कहानी ही नहीं हुई । बार-बार पूछने लगा, फिर क्या हुआ ? उसने कहा—फिर तो एक नया टंटा खड़ा हो गया । क्या देखता हूँ कि एक लकड़बग्घा है । ये बड़ी-बड़ी उसकी मूछें हैं । आंधी के समय उस पार के गजघाटवाले पाकड़ के पेड़ पर चढ़ गया था । इधर आंधी का एक झोंका लगा, उधर सारा पेड़ पड़ा नदी में आ गिरा और साथ साथ वह चले पानी की धार में । पानी पीते-पीते उसका दम फूल गया था । वह भी उसी रेती पर आ खड़ा हुआ । उसे देखते ही मैंने अपनी रस्सी में मैं फंदा लगाया । वह पट्ठा भी बड़ी-बड़ी डरावनी आंखें लाल किए हुए ठीक मेरे सामने आ खड़ा हुआ । तैरने में उसे भूख लग आई थी । मुझे देखते ही

उसकी लाल-लाल जीभ से लार टपकने लगी। बाहर के और भीतर के बहुतेरों से उसकी जान-पहचान हो गई है। पर बच्चा अब्दुल को नहीं पहचानते। मैंने ललकारा, आ जाओ बच्चाराम। इधर वह दोनों पैरों पर खड़ा होता है, उधर मैंने गले में फंदा डाल दिया। छुड़ाने के लिए बच्चू जितने ही छटपटाते हैं, उतनी ही फंदा कसता जाता है। अन्त में जीभ निकल आई। यहीं तक सुनकर मैं हड़बड़ाकर बोल उठा—अब्दुल, वह मर गया क्या? अब्दुल बोला—मरेगा कैसे? उसके बाप की मजाल है! नदी में बाढ़ आई है। बहादुरगंज तक तो लौटना है न? डोंगी में बांधकर इस बाघ के पट्ठे से कम-से-कम बीस कोस रास्ता खिंचवाया। गों-गों करता रहता था और मैं ऊपर से पेट में डाँड से खोंचता रहता था। दस-पन्द्रह घंटे का रास्ता डेढ़ घँटे में पहुँचा दिया। इसके बाद की बात अब मत पूछो लल्ला, जवाब नहीं मिलेगा। मैंने कहा, बहुत अच्छा। बाघ तो हुआ, अब घड़ियाल की कहो। अब्दुल ने कहा—पानी के ऊपर उसकी नाक की फुनगी मैंने कई बार देखी है। नदी के ढलवें किनारे पर जब वह पैर फैलाकर सोया हुआ धूप तापता रहता है, तो जान पड़ता है कि बड़ी बुरी हँसी हँस रहा है। बन्दूक होती, तो मुकाबला किया जाता। लाइसेंस खत्म हो गया है।

लेकिन एक मजेदार बात हुई। कांची बेदनी तीर पर बैठी दाव से बत्ता छील रही थी। उसका मेमना पास ही बँधा था। न जाने कब एक घड़ियाल नदी से बाहर निकला और मेमने की टांग पकड़कर उसे पानी में घसीट ले गया। बेदनी झट कूदकर उसकी पीठपर सवार हो गई। दाव से उस गिरगिट दैत्य (घड़ियाल) के गले पर लगी छेंव मारने। और मेमना को छोड़कर वह जन्तु पानी में डूब गया। मैंने व्यस्त होकर पूछा—फिर क्या हुआ? अब्दुल ने कहा, उसके बाद की खबर तो पानी में ही डूब गई। निकाल कर

बाहर आने में देर लगेगी। दूसरी बार जब भेंट होगी, तो चर भेजकर उसकी तलाश कराऊँगा। लेकिन वह फिर लौटा नहीं। शायद तलाश करने गया है।

यह तो थी पालकी के भीतर मेरी यात्रा। पालकी के बाहर मेरी मास्टरी चलती। सारे रेलिंग मेरे विद्यार्थी थे। मारे डर के चुप रहा करते। एकाध बड़े शरारती थे। पढ़ने-लिखने में बिलकुल मन नहीं लगाते थे। उन्हें मैं डर दिखाया करता कि बड़े होने पर कुली का काम करना पड़ेगा। मार खाते-खाते इनके शरीर में नीचे से ऊपर तक दाग निकल आए थे, फिर भी इनकी शरारत जाती नहीं थी, क्योंकि यदि इनकी शरारत रुक जाती तो काम कैसे चलता, खेल ही खत्म हो जाता। काठ के एक सिंह को लेकर एक और खेल भी था। पूजा में बलिदान की कहानी सुनकर सोचा था सिंह को बलि देने पर एक भारी बवाल खड़ा हो जायगा। उसकी पीठ पर लकड़ी से कई झटके मारे। मन्तर बना लेना पड़ा था, नहीं तो पूजा ही न हो पाती—

सिंगि (सिंह) मामा काटुम
आन्दिबोसेर बाटुम
उलकुट् ढुलकुट् ढमकुड़कुड़
आखरोट बाखरोट खट-खट खटास
पटपट पटास।

इसमें प्रायः सभी शब्द उधार के थे। केवल आखरोट (अखरोट) मेरा नाम है। अखरोट मुझे बहुत पसंद थे। खटास शब्द से जान पड़ेगा कि मेरा खड्ग काठ का था और पटास शब्द बता देता है कि वह मजबूत नहीं था।

कह चुका हूँ कि तब कलकत्ता शहर की चहल-पहल आज-जैसी नहीं थी। आसमान सूरज के उजेले का दिन ज्यों ही खतम हुआ कि बिजली के उजेले का

दिन शुरू हो जाता है । उस समय शहर में काम तो कम होता है; पर विश्राम बिलकुल नहीं । मानों चूल्हे में जलती हुई लकड़ी के बुझ जाने पर भी जलते कोयले की आंच रह गई है । उस समय तेलकल नहीं चलते, स्टीमर की सीटी वन्द हो गई होती है, कारखाने से मजदूर निकल गए होते हैं और पाट की गांठ ढोनेवाले गाड़ी के भैंसे टीन की छतवाले शहरी खरिक में चले जाते हैं । दिन भर नाना चिन्ताओं से जिस शहर का माथा धधकती हुई आग बना हुआ था, उसकी नाड़ी मानों अव भी धधक रही है । रास्ते के दोनों ओर की दूकानों की खरीद-बिक्री वैसी ही है, मानों आग सिर्फ थोड़ी-सी राख से ढंकी हुई है । तरह-तरह की आवाजें करती हुई हवा गाड़ियां चारों ओर छूट रही हैं । इनकी दौड़ के पीछे मतलब या गरज की धकेल कम हो जाती है । हमारे उस पुराने जमाने में दिन के खत्म होते ही काज-कर्म की बचतवाला हिस्सा शहर की बत्ती बुझी निचली तह में काली कमली तानकर चुपचाप सो रहता । इडेन-गार्डेन और गंगा के किनारे शौकीन लोगों को हवा खिलाकर लौटती हुई गाड़ियों के सईसों की हौऽ-हौऽ आवाज रास्ते में से सुनाई देती । चैत-वेसाख के महीने में रास्ते में फेरी लगानेवाले हांक देते रहते—'बरिफ' । एक हांड़ी में वर्फ दिया हुआ नमकीन पानी हुआ करता, जिसमें टीन के चोंगों में वह चीज वन्द रहती, जिसे कुलफी का वर्फ कहा जाता था । आजकल उसे आइस या आइस-क्रीम कहते हैं । रास्ते की ओर मुंह करके वरामदे में जब मैं खड़ा होता और वह आवाज सुनाई देती, तो मन कैसा होने लगता था, यह मन ही जानता है । और एक आवाज थी 'बेल-फूल' । न जाने, क्यों आजकल वसन्तकाल के मालियों की उन फूल-डालियों की खवर नहीं मिलती, उन दिनों घरवालियों के जूड़े से वेले की माला की खुशबू हवा में फैल जाया करती । हाथ-मुंह धोने जाने के पहले स्त्रियाँ घर के सामने बैठकर हाथ में आईना लिए हुए केश संवारतीं । बिनाई की हुई पाटी से बड़ी कारीगरी से जूड़े बांधे जाते । उनके

पहनावे में फराशडांगा की काली किनारीवाली साड़ी होती, जिसे चुनकर लहरदार बना दिया जाता। नाइन आती और झांवें से पैर रगड़कर महावर दे जाती। ये नाइनें ही स्त्रियों के दरबार में खबर फैलाने के काम आतीं। उन दिनों कालेज और आफिस से लौटे हुए दल ट्राम के पावदान पर धक्का-मुक्की करते हुए फुटबाल के मैदान की ओर भागा नहीं करते थे और लौटती बार उनकी भीड़ सिनेमाहाल के सामने भी नहीं जमती थी। नाटक के अभिनय में एक बार उत्साह दिखा था, पर क्या बताऊं, उन दिनों हम बच्चे थे।

उस समय बड़ों के दिलबहलाव में बच्चे दूर से भी हिस्सा नहीं बंटा पाते थे। हम कभी हिम्मत करके नजदीक पहुँच भी जाते, तो सुनना पड़ता कि जाओ, खेलो। और फिर भी यदि लड़के खेलते समय जैसा चाहिए वैसा हल्ला-गुल्ला करते, तो सुनना पड़ता—हल्ला मत करो, चुप रहो। यह बात नहीं है कि बड़ों का हंसी-खेल सब समय चुपचाप ही होता हो। इसीलिए कभी-कभी दूर से उसमें का कुछ झरने के फेन के समान हमारी ओर छिटक ही पड़ता। मैं जब इस घर के बरामदे से झुककर उधर ताकता, तो देखता कि वह घर प्रकाश से चमक रहा है। ड्योढ़ी के सामने बड़ी-बड़ी बग्घियां आकर खड़ी हुई हैं। सदर दरवाजे पर बड़े भाइयों में से कोई अतिथियों की आगवानी करके ऊपर ले जा रहे हैं। गुलाबपाश से उनपर गुलाब छिड़क रहे हैं और हाथ में फूलों का एक तोड़ा दे रहे हैं। कभी-कभी नाटक से किसी कुलीन महिला की सिसकन की भनक आ जाती, इसका मर्म मेरी समझ में कुछ नहीं आता था। समझने की इच्छा प्रबल हो उठती। बाद में खबर पाता कि जो सज्जन सिसक रहे थे, वे कुलीन जरूर थे; पर महिला नहीं, मेरे बहनोई थे। उन दिनों के समाज में जिस प्रकार पुरुष और स्त्रियां तो दो सीमाओं पर दो ओर पड़े हुए थे, उसी प्रकार दो सीमाओं पर थे बड़े और छोटे। बैठकखाने के झाड़-फानूस के प्रकाश में नाच-गान चला करता, बड़ों का दल गड़गड़े का कश लगाता रहता, औरतें हाथ में पनडब्बा लिए

झरोखे क उस ओर छिपी रहतीं, वहीं बाहर की स्त्रियाँ भी आ जुटतीं और फिसिर-फिसिर करके गृहस्थी की खबर चलती रहतीं। लड़के उस समय बिछौनों पर होते। पियारी या शंकरी कहानी सुनाती रहती, कान में भनक पड़ती—'जैसे चांदनी में फूल खिला हो।'

मकान के भीतरवाली चहारदीवारी-घिरी छत याद आती है। संध्या समय मां चटाई बिछाकर बैठी हुई है, उनकी संगिनियां उन्हें चारों ओर घेर कर बात कर रही हैं। इस बातचीत के सिलसिले में विशुद्ध समाचार की कोई जरूरत नहीं हुआ करती थी। सिर्फ समय काटने से मतलब हुआ करता था। उन दिनों दिन के समय को भर लेने के लिए नाना दाम के, नाना भाँति के माल-मसालों की आमद नहीं हुआ करती थी। दिन ठोस बुनाई किया हुआ नहीं था, बलिक बड़े-बड़े सूराखवाले जाल की भाँति था। चाहे पुरुषों की मजलिस हो या स्त्रियों की बैठक; बातचीत, हंसी-मजाक सब हल्के दामों के हुआ करते थे। मां की सबसे प्रधान संगिनियों म थीं व्रज आचार्जी की बहन, जिन्हें 'आचार्जिनी' कहकर पुकारा जाता था। वे ही इस बैठक में दैनिक खबर सप्लाई किया करती थीं। प्रायः दुनिया भर की अजीब खबर इकट्ठी करके या बनाकर ले आतीं। इन खबरों के आधार पर ही ग्रहों की शान्ति और स्वस्त्ययन का हिसाब खूब भारी-भरकम खर्च से होता। इस सभा में मैं भी बीच-बीच में ताजी-ताजी किताबी विद्या की आमदनी किया करता। सुनाता कि सूर्य पृथ्वी से नौ करोड़ मील की दूरी पर है। ऋजुपाठ द्वितीय भाग से अनुस्वार-विसर्ग-समेत वाल्मीकि रामायण के श्लोक सुना देता। मां को मालूम नहीं था कि उनके पुत्र का उच्चारण कितना शुद्ध था तथापि उसकी विद्या सूर्य के नौ करोड़ मील के रास्ते को पार करके उन्हें अचरज में डाल देती थी। भला ये सारे श्लोक स्वयं नारद मुनि के सिवा और किसके मुंह से सुनाई दे सकते थे।

घर के भीतर की यह छत पूरी-की-पूरी स्त्रियों के दखल में थी। भंडार

के साथ उसका समझौता था। वहां धूप पूरी पड़ती और जारक नीबू को भी जला देती। यहां स्त्रियां पीतल के कठरों में उड़द का पिसान लेकर बैठतीं और केश सुखाते-सुखाते टपाटप बड़ियां खोंटा करतीं; दासियां छोड़े हुए कपड़े कचार कर धूप में पसार जातीं। उन दिनों धोबी का काम बहुत हल्का था। कच्चे आम की फलियां काटकर अमचूर सुखाया जाता, छोटे-बड़े माप के बहुतेरे काले पत्थर के सांचों में थवके का थवका आम का रस जमाकर अमावट बनाया जाता, धूप खाए हुए सरसों के तेल में कटहल का अचार पका करता, केवड़े का खैर सावधानी से तैयार किया जाता। इस बात को जो मैं याद रख रहा हूँ, उसका कारण है। जब स्कूल के पंडितजी ने बता दिया कि मेरे घर के केवड़े के खैर का सुनाम उनका सुना हुआ है, तो इसका मतलब भी समझने में मुझे कठिनाई नहीं हुई। जो कुछ उनका सुना हुआ है, वह उन्हें जानना भी चाहिए। इसीलिए घर का नेकनाम बनाए रखने के लिए बीच-बीच में छिपकर चुपके से छत पर उठ जाता और एकाध केवड़ों में से—क्या बताऊं! चोरी किया करता 'कहने से अच्छा' है, यह कहूं कि हथिया लेता; क्योंकि राजे-महाराजे भी जरूरत पड़ने पर—यहां तक कि जरूरत न पड़ने पर भी—औरों की चीजें हथिया लेते हैं और जो लोग चोरी किया करते हैं, उन्हें जेल भेजते हैं या सूली चढ़ाया करते हैं। जाड़ों की कच्ची धूप में छत पर बैठकर बात करती हुई स्त्रियों को कौआ भगाने की और समय काटने की भी एक जवाबदेही थी। घर में मैं एकमात्र देवर था। भाभी के अमावट का पहरा और इसके सिवा दस-पांच खुदरे कामों का साथी अकेला मैं ही था। उन्हें 'बंगाधिप-पराजय' पढ़कर सुनाया करता। कभी-कभी मेरे ऊपर सरौते से सुपारी काटने का भार भी आ पड़ता। मैं खूब पतली सुपारी काट सकता था। वह ठकुरानी (भाभी) बिलकुल ही नहीं मानती थीं कि मेरे अन्दर और कोई गुण है, यहां तक कि चेहरे में भी दोष निकालकर विधाता पर क्रोध करा देती थीं। किन्तु मेरा सुपारी काटनेवाला गुण बढ़ा-चढ़ाकर कहने में उन्हें कोई हिचक

नहीं थी। नतीजा यह होता कि सुपारी काटने का काम बड़े जोर-शोर से चला करता। उकता देनेवाले काम के अभाव में महीन सुपारी काटने वाला हाथ और भी महीन कामों में लग गया है।

छत पर फैले हुए इन घरेलू कामों में देहात का एक स्वाद था। ये काम उस समय के हैं जबकि घर में ढेंकी थी, जबकि नारियल की गिरियां कुतरी जाती थीं, जबकि दासियां शाम को बैठकर जंघे पर वत्तियां पूरा करती, जबकि पड़ोसी के घर से अटकौर मनाने का निमंत्रण आया करता। आजकल के लड़के स्त्रियों के मुँह से कहानियां नहीं सुनते, छपी हुई पोथियों में खुद पढ़ लिया करते हैं। अचार-चटनी आजकल चौक के बाजार से खरीद लाना पड़ता है जो बोतल में भरे होते हैं और चपड़ा लगाकर ठेपियों से बन्द किए हुए होते हैं।

देहात की एक और छाप चंडीमंडप में थी। वहां गुरुजी की पाठशाला लगा करती। केवल घर के ही नहीं, आसपास के पड़ोसियों के लड़कों की विद्या की पहली खुरचन वहीं ताड़ के पत्तों पर पड़ती। मैंने भी निश्चय ही यहीं पर 'स्वर अ, स्वर आ' के ऊपर हाथ चलाकर लिखने-पढ़ने का अभ्यास शुरू किया था। किन्तु सौरजगत् के सबसे दूरवाले ग्रह के समान उस शिशु को मन में ले आनेवाली किसी भी दूरबीन से उसे देखना अब संभव नहीं है।

इसके बाद पुस्तक पढ़ने की सबसे पहली बात जो याद आती है, वह है पण्डामार्क मुनि की पाठशाला के विपम व्यापार को लेकर। नृसिंह अवतार ने हिरण्यकशिपु का पेट फाड़ डाला है, शायद शीशे के फलक पर खुदा हुआ उसका एक चित्र भी उसी पुस्तक में देखा था। और फिर याद आते हैं चाणक्य के कुछ श्लोक।

मेरे जीवन में बाहर की खुली छत प्रधान छुट्टी का देश था। छोटी से बड़ी उमर तक के नाना प्रकार के दिन उसी छत पर नाना भाव से कटे हैं।

मेरे पिताजी जब घर पर होते तो तितल्ले के एक कमरे में रहा करते । चिक कोठे की आड़ में खड़ा होकर दूर से कितनी ही बार मैंने उन्हें देखा है । तब भी, जब सूर्य उगा न होता, वे सफेद पत्थर की मूर्ति के समान चुपचाप बैठे होते और गोद में दोनों हाथ जुड़े होते थे । बीच-बीच में वे बहुत दिनों के लिए पहाड़-पर्वतों पर चले जाते थे, तब उस छत पर जाना मेरे लिए सातों समुन्दर पार जाने के आनन्द के समान था । हमेशा निचले तल्ले के बरामदे में बैठा-बैठा रेलिंग की फांकों में से अबतक रास्ते का आवागमन देखता आया हूँ, लेकिन उस छत पर पहुँचना मानों बस्ती के सीवान पत्थर को बहुत दूर छोड़ जाने के समान था । वहां जाने पर कलकत्ते के सिर पर पैर रखकर मन वहां चला जाता है जहां आकाश का अन्तिम नीला रंग धरती की अन्तिम हरियाली में मिल गया है । तरह-तरह के मकानों की तरह-तरह की बनी हुई ऊँची-नीची छतें आंखों में टकराती रहती हैं और बीच-बीच में वृक्षों के झुटीले सिर दिख जाया करते हैं । मैं अक्सर छिपकर दुपहरी को इस छत पर चढ़ आता था । दुपहरी सदा मेरे मन को लुभाए रही है । यह मानों दिन में की रात है, बालक संन्यासी के वैरागी हो जाने का समय है । खड़खड़ी के भीतर से हाथ डालकर घर की सिटकिनी खोल देता। दरवाजे के ठीक सामने एक सोफा था; वहीं अकेला ही बैठता । मुझे गिरफ्तार करनेवाले जो चौकीदार थे, वे उस समय पेटभर खाकर ऊँघते और अँगड़ाई लेते-लेते चटाई पर लुढ़के पड़े थे । धूप रंगीन हो आती, चील आसमान में आवाज देकर निकल जाती । सामने की गली से चूड़ीवाला आवाज दे जाता । दुपहरी का वह सन्नाटा अब नहीं है, और न सन्नाटे का वह फेरीवाला ही अब मौजूद है ।

काव्य-रचना

उस समय मेरी अवस्था आठ वर्षों से अधिक नहीं थी । मेरे पिता की बुआ का एक 'ज्योति' नामक लड़का था । वह मुझसे बहुत बड़ा था । अंग्रेजी

साहित्य में उसने अभी प्रवेश ही किया था, इसलिए वह हेम्लेट का स्वगत-भाषण बड़े आविर्भाव के साथ बोला करता था । यद्यपि मेरी अवस्था छोटी थी तथापि ज्योति को यह विश्वास हो गया था कि मैं अच्छी कविता कर सकूंगा । वास्तव में देखा जाय तो इस प्रकार के विश्वास का कोई कारण न था । एक दिन दोपहर के समय ज्योति ने मुझे अपनी कोठरी में बुलाया और एक कविता की रचना करने के लिए कहा । साथ ही उसके चौदह अक्षरों के वृत्त की रचना भी मुझे बता दी ।

उस दिन तक छपी हुई पुस्तक के सिवाय दूसरी जगह मैंने लिखी हुई कविता नहीं देखी थी । छपी हुई कविता में लिखने की भूल, काटा-काटी, कुछ नहीं होती । कितना ही प्रयत्न करने पर भी इस प्रकार की कविता मैं कर सकूंगा, इस बात की कल्पना करने की धृष्टता भी मुझसे नहीं हो सकती थी । एक दिन हमारे घर में एक चोर पकड़ा गया । उस समय, चोर कैसा होता है, यह देखने की मुझे बड़ी जिज्ञासा थी । अतः जहां पर चोर को पकड़ कर रक्खा गया था, वहां डरते-डरते मैं गया । मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि वह भी एक सामान्य व्यक्ति की तरह ही है । उसमें और अन्य व्यक्तियों में कुछ भी अन्तर मुझे दिखलाई न पड़ा । इसलिए दरवाजे पर के पहरेवालों को उसके साथ बुरा व्यवहार करते देखकर मुझे बड़ी दया आई । काव्य-रचना के संबंध में भी मुझे इसी प्रकार का अनुभव हुआ । पहले तो इस संबंध में मुझे बड़ा भय मालूम होता था, परन्तु ज्योति के कहने पर मैंने अपनी इच्छा के अनुसार कुछ शब्द एक स्थान पर एकत्र किये । देखता हूँ तो पामर वृत्त, जिसकी रचना के नियम ज्योति ने मुझे समझा दिए थे, तैयार है । अब तो काव्य-रचना में यश-प्राप्ति होने के संबंध मे मुझे भी सन्देह नहीं रहा । जिस तरह पहरेदारों को चोर के साथ बुरा व्यवहार करते देखकर मुझे खेद हुआ था, उसी प्रकार अयोग्य लोगों के द्वारा देवता की विडम्बना होते देखकर मुझे आज भी बहुत खेद होता है । देवता के प्रति होनेवाले व्यवहार को

को देखकर मुझे कई बार अनुकम्पा आई होगी, पर मैं कर ही क्या सकता हूँ ? आक्रमण करने के लिए अधीर होनेवाले हाथों को बलात् रोक रखने की शक्ति मुझमें कहां है ? काव्य-देवता को आज तक जितने कष्ट सहने पड़े होंगे, उसे जितने हाथों ने कुरूप बनाने की चेष्टा की होगी, उतने कष्ट चोरों को भी नहीं उठाने पड़े होंगे और न उतने हाथों का उन्हें स्पर्श ही हुआ होगा।

पहले पहल मालूम होनेवाला भय जब इस तरह दूर हो गया तो मैं काव्य-रचना के संबंध में स्वतः संचार करने लगा। मुझे रोकनेवाला भी कौन था ? अपनी जमीन्दारी की व्यवस्था करनेवाले एक अधिकारी की कृपा से मैंने नीले कागज की एक सादी किताब प्राप्त की और उसपर पेन्सिल से लकीरें खींचकर छोटे बालकों के लिखने के समान मैं कविता लिखने लगा। तुरंत निकले हुए छोटे-छोटे सींगों के बल इधर-उधर छलांगें भरनेवाले हिरण के बच्चों के समान मेरी नवोदित काव्य-रचना का मेरे बड़े भाई को इतना अभिमान हुआ कि उन्होंने मेरी उस रचना को एक जगह पड़ा रहने नहीं दिया। सारे घर में उसके लिए हमें श्रोता ढूंढने पड़े। मुझे याद है कि जमीन्दारी के अधिकारियों पर हम दोनों के विजय प्राप्त कर लेने पर जब हम जमींदारी के कार्यालय से बाहर निकले तो हमें रास्ते में नेशनल पेपर के सम्पादक नवगोपाल मित्र आते हुए मिले। कुछ प्रस्तावना न करते हुए मेरे भाई ने उनसे कहा—'देखिए नवगोपाल बाबू, हमारे रवि ने एक कविता की है ! वह आप को सुनना चाहिए।' उत्तर की प्रतीक्षा कौन करता है ? मैं तुरत कविता पढ़ने लगा। मेरी काव्य-रचना उस समय परिपक्व नहीं हुई थी। वह मर्यादित दशा में थी।

मेरे भाई मेरी कविता के प्रचार के लिए विज्ञापन का काम करते थे। वह कविता कमल-पुष्प पर की गई थी। जितने उत्साह से मैंने इसकी रचना की थी, उतने ही उत्साह से उसे मैंने नवगोपाल बाबू को सुना दी थी। नवगोपाल बाबू ने हँसते-हँसते कहा—"बहुत अच्छी है, पर यह 'द्विरेफ' क्या

चीज है ?" द्विरेफ शब्द को मैंने कहां से गढ़ा था, यह मुझे याद नहीं है। यद्यपि एकाध दूसरे सादे शब्द से भी वह छन्द जम सकता था, पर उस कविता में 'द्विरेफ' शब्द पर हमारी आशा का डोरा झूल रहा था। हमारे कार्यालय के कर्मचारियों पर तो इस शब्द ने बहुत ही अधिक प्रभाव डाला था, परन्तु नवगोपाल बाबू ने, आश्चर्य है कि, उस शब्द का कुछ भी मूल्य नहीं समझा और इतना ही नहीं, वे साथ ही हँसे भी। उनके इस व्यवहार से मैंने निश्चय किया कि काव्य में इन महाशय की कुछ भी गति नहीं है। इसके बाद मैंने फिर कभी उन्हें अपनी कविता नहीं सुनाई। इस बात को हुए आज बहुत वर्ष बीत चुके हैं और मेरी अवस्था भी बहुत अधिक हो गई है, तो भी मुझे इस बात का ज्ञान अभी तक नहीं हुआ कि मेरी कविता पढ़नेवालों की रसिकता किस तरह आजमाई जाय, और उन्हें काव्यानन्द प्राप्त हुआ है या नहीं, यह किस प्रकार समझा जाय। नवगोपाल बाबू भले ही और कितना भी हँसे हों, पर मधुपान में लीन भ्रमर के समान 'द्विरेफ' शब्द अपने स्थान पर चिपटा ही रहा।

वर्षा और शरद्-ऋतु

हिन्दू-ज्योतिषशास्त्र के अनुसार प्रत्येक वर्ण का कोई-न-कोई शास्ता माना जाता है। इसी प्रकार मेरे अनुभव की बात यह है कि जीवन की प्रत्येक अवस्था में किसी-न-किसी ऋतु का संबंध रहता ही है और उसे ही विशेष प्रकार का महत्व प्राप्त होता है। मेरी बाल्यावस्था की वर्षाऋतु के चित्र मेरे स्मृति-पटल पर ज्यों-के-त्यों मौजूद हैं। हवा के झोंकों से पानी भीतर आ रहा है, बरामदे से होकर भीतर जाने के दरवाजे बन्द कर लिए गए हैं। सिर पर साग की टोकरी लिए हुए हमारी बूढ़ी नौकरानी पीरी पानी से भींगती हुई कीचड़ में से निकलने का प्रयत्न कर रही है और ऐसे समय में मैं बिना किसी कारण के आनन्द में मग्न होकर बरामदे में इधर-उधर चक्कर मार रहा हूँ।

ऐसी ही एक बात और मुझे याद है। मैं पाठशाला में हूँ। गैलरी में हमारी कक्षा लगी हुई है। बाहर चिकें पड़ी हैं। दोपहर का समय है। इतने में आकाश बादलों से भरने लगा। हम यह सब अभी देख ही रहे हैं कि जलधारा शुरू हो गई। भय उत्पन्न करने वाली मेघ-गर्जना भी बीच-बीच में हो जाती है। मालूम पड़ता है कि कोई पागल स्त्री विद्युत-रूपी छुरी हाथ में लेकर आकाश को इस छोर से उस छोर तक चीर रही है। झंझावात से चिकें जोर-जोर से हिल रही हैं। इतना अन्धकार हो गया है कि बड़ी कठिनाई से हमलोग अपनी पुस्तक पढ़ सकते हैं। पंडितजी ने अपनी-अपनी पुस्तकें बन्द करने की आज्ञा दे दी। हमारे हिस्से में आई हुई धूमधाम और हो-हल्ला करने के लिए इस समय हमने मेघों को आम इजाजत दे रक्खी है। इधर लटककर अपने झूलते हुए पैरों को हम हिला रहे हैं। ऐसे समय में जिस प्रकार किसी काल्पनिक कहानी का नायक राजपुत्र किसी जंगल में भटकता हो, उस प्रकार मेरा मन भी उस अतिदूरस्थ अरण्य में सीधा चला जा रहा है, ऐसा मालूम होता था।

इसके सिवा श्रावण मास की गंभीर रातों का मुझे अच्छी तरह स्मरण हो आता है। बीच-बीच में नींद खुल जाती है। पानी की बूंदें प्रशान्त निद्रा की अपेक्षा अधिक प्रशान्त और आनन्ददायिनी प्रतीत होती हैं। जाग्रत होने पर मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि रात भर इसी प्रकार पानी पड़ता रहे। हमारा हौज पानी से लबालब भर जाय और स्नान करने की 'वापी' में इतना पानी आ जाय कि वह ऊपर की सीढ़ी तक आ पहुँचे।

इसके बाद मैं जिस अवस्था का वर्णन करता हूँ, उसमें निश्चय ही शरद् ऋतु का साम्राज्य है। आश्विन मास के शान्त वातावरण में वह साम्राज्य फैला हुआ दीख रहा है। ओस से भींगी हुई हरियाली के तेज से प्रतिबिम्बित मार्दवीय सुनहले सूर्यप्रकाश में मैं बरामदे में चक्कर मारा करता।

इसी वर्ष मुझे गांधीजी से मिलने का एक अवसर और मिला, जब सरदार पटेल की पुत्री मणिबेन अस्वस्थ हुईं। गांधीजी सरदार पटेल के साथ हंसी कर बैठे कि तुम्हारी नाक कट गई। उस समय सरदार पटेल ने अपनी नाक पर एक साधारण आपरेशन कराया था।

इसके अनंतर मैंने गांधीजी के दर्शन १९३१ में किये। कलकत्ता तथा अन्य स्थानों के भयानक दंगे अभी समाप्त ही हुए थे। गांधी-इर्विन समझौते की भी घोषणा हो चुकी थी। गांधीजी ने सत्याग्रह स्थगित कर दिया था और अब कांग्रेस महासमिति की बैठक बुलायी गयी थी। सब सदस्य काशी विद्यापीठ में ठहराये गये। केवल मौलाना अबुलकलाम आजाद होटल में ठहरे। अलीबन्धु कांग्रेस से अलग होकर मुस्लिम लीग में सम्मिलित हो गये थे। मैंने सरदार वल्लभभाई पटेल को यहां दूसरी बार देखा। प्रथम बार सन् १९२१ में लखनऊ में कांग्रेस महासमिति की बैठक में देखा था। सरदार मंत्री होने की अपेक्षा प्रधान सेनापति होने के अधिक उपयुक्त हैं। गांधीजी के परम भक्त होने पर भी 'अहिंसा' पर उनका सदैव गांधीजी से मतभेद रहता था। मौलाना अबुलकलाम स्पष्टरूप से अपना मतभेद प्रकट करते थे। शेष अन्य कांग्रेस-सदस्य व्यक्तिगत मतभेद रखते थे। वे तिलकजी के सिद्धांत पर विश्वास करते थे जिसका प्रतिपादन सभी धर्मविधानों में है और जो यहूदी पैगम्बर मोजेज, मुस्लिम पैगम्बर मुहम्मद और हिंदू अवतारों में राम और कृष्ण के वचनों और कार्यों में पाया जाता है। रक्षा के लिए जो हिंसा की जाय वह हिंसा नहीं, दंड है। हिंसा और दण्ड में आकाश-पाताल का अन्तर है। इसके अनन्तर कांग्रेस के अधिवेशन से पहले गांधीजी ने इस तथा अन्य ऐसे ही कारणों से त्यागपत्र दे दिया। फिर भी यदि मानव प्रकृति के इस प्राचीन सिद्धांत का अनुसरण हिंदू समाज न करता, तो इसे और हिंदू धर्म को मुस्लिम लीग निगल गयी होती। इसको स्वार्थी, पुराणपंथी अन्धे पंडितों ने भी स्वीकार किया है।

काशी विद्यापीठ में कांग्रेस महासमिति की बैठक हुई। उस साल आम की उपज असाधारण रूप से अच्छी थी। महात्माजी सत्य के साथ एक प्रयोग कर रहे थे। यहां सत्य भोजन था और साधारणतः प्रयोग विफल रहा। आयुर्वेद का कहना है कि यदि आम के शुद्ध मीठे रस का सेवन ४० दिन तक बराबर किया जाय तो कायाकल्प हो जाता है। परन्तु कुछ ऐसी गड़बड़ी हुई कि गांधीजी को रात में अजीर्ण हो गया। मैंने बनारस के सबसे पुराने डाक्टरों को बुलाया, वे सब सेवा की भावना से बिना फीस आये। उन्होंने बड़ी श्रद्धा से गांधीजी की परीक्षा की और निर्णय किया कि उनमें कोई खराबी नहीं है। उनके तपस्वी जीवन ने बीमारी पर विजय पा ली थी। डाक्टरों के सामने मैंने कह डाला—"महात्माजी कुपथ्य करते हैं।" यह स्वाभाविक था कि वे मेरे इस कथन का अर्थ दूसरा निकालते। उन्होंने कहा —"आप ऐसा करते हैं।" मैंने स्पष्ट करते हुए कहा—"साधारण कुपथ्य नहीं आप आधी-आधी रात तक लोगों से वार्तालाप करते रहते हैं और फिर दो घंटे पश्चात् अपने सोते हुए सेक्रेटरियों को जगाकर असंख्य पत्र लिखा-लिखा कर उन्हें व्याकुल कर देते हैं। मेरी समझ में यही कुपथ्य है।" उनके क्षुब्ध मुखमंडल पर हास्य की रेखा खेल गयी और सब प्रसन्न दिखाई देने लगे।

उसी संध्या को लगभग ९ बजे रात्रि में मैंने प्रमुख सोशलिस्टों और कम्यूनिस्टों के एक शिष्टमंडल का उनसे वार्तालाप कराया। इसमें उस समय के काशी विद्यापीठ के अध्यापक आचार्य नरेन्द्रदेव, श्री सम्पूर्णानन्द इत्यादि थे। मैंने महात्माजी से कहा—"इन नवयुवकों में कुछ आपके सबसे अच्छे कार्यकर्ता हैं। काशी विद्यापीठ के इनके विद्यार्थी सभी प्रांतों में गये हैं और वहां उन्होंने बहुत अच्छा कार्य किया है। उन्होंने हिन्दुस्तानी के प्रचार द्वारा हिंदू-मुस्लिम एकता, अस्पृश्योद्धार और खादी का प्रचार किया है। वे धरना देने, जेल जाने, पुलिस की लाठी खाने में सबसे पहले रहे हैं और इस प्रकार उन्होंने मातृभूमि को स्वराज्य की ओर ले जाने में बड़ा सहयोग दिया है।

आप उनको अवसर दीजिये जिससे वे कांग्रेस नेताओं और सोशलिस्टों-कम्यु-निस्टों के बीच उत्पन्न गंभीर मिथ्याभ्रम को सामने ला सकें। दोनों पक्षों के बीच बहुत कम मतभेद है, परन्तु है महत्त्वपूर्ण। स्टालिन के शब्दों में 'जितना काम उतना पारिश्रमिक' सोशलिज्म है और 'जितनी आवश्यकता उतना पारिश्रमिक' कम्युनिज्म है। गांधीजी और शिष्टमंडल में एक घंटे से अधिक शांत वातावरण में बातचीत हुई। मैं चुपचाप बैठा रहा। मैं समझता हूँ कि कांग्रेस की ओर मिथ्या भ्रम दूर हो गया, परन्तु दुर्भाग्यवश वह फिर उत्पन्न हो गया था। स्वातंत्र्य-संग्राम के वीर सैनिक नरीमैन भी बैठक में आये थे, वे भी कांग्रेस महासमिति के सदस्य थे। उनको निकालने में कांग्रेस ने भूल की थी। वह सेवाश्रम में ही ठहरे थे, क्योंकि अजीर्ण के कारण उनको विशेष भोजन की आवश्यकता थी। रामगढ़ कांग्रेस के पहले इस अवसर पर असाधारण वीर सुभाषचन्द्र बोस को भी सेवाश्रम में एक दिन के लिए अतिथि के रूप में पाकर हमने (इस नाते मैं अनुभव करता हूँ) अपने को बहुत सम्मानित अनुभव किया था।

दूसरी बार मैंने गांधीजी को आजाद, खान अब्दुल गफ्फार खां (प्रथम बार) तथा उनकी पुत्री नूरिया, सरदार पटेल, डा० विधानचन्द्र राय (प्रथम बार), सुश्री उमा नेहरू, जवाहरलाल नेहरू, सरोजिनी नायडू तथा अन्यान्य नेताओं के साथ १९३६ में देखा। इस अवसर पर महात्मा गांधी व्यावहारिक रूप से भारतमाता-मंदिर का उद्घाटन करने आये थे।

विश्ववन्ध बापू की आत्मकथा

गांधी-परिवार कहते हैं, पहले पंसारी का काम करता था। परन्तु मेरे दादा से लेकर तीन पुश्त तक उसने दीवानगीरी की है। जान पड़ता है, उत्तमचन्द गांधी, उर्फ ओता गांधी, बड़े टेकवाले थे। उन्हें राज-दरबारी साजिशों के कारण, पोरबन्दर छोड़कर जूनागढ़ राज्य में जाकर रहना पड़ा था। वहां गए तो उन्होंने बायें हाथ से नवाब साहब को सलाम किया। जब किसी ने इस स्पष्ट गुस्ताखी का कारण पूछा, तो उत्तर मिला—'दाहिना हाथ तो पोरबन्दर के सुपुर्द हो चुका है।'

ओता गांधी ने एक-एक करके अपने दो विवाह किए थे। पहली पत्नी चार लड़के हुए थे और दूसरी से दो। लेकिन अपना बचपन याद करते हुए मुझे यह खयाल तक नहीं आता कि ये भाई सौतेले लगते थे। उनमें पाँचवें करमचन्द गांधी उर्फ कबा गांधी और अंतिम तुलसीदास गांधी थे। दोनों भाई बारी-बारी से पोरबन्दर में दीवान रहे थे। कबा गांधी मेरे पिताजी थे। पोरबन्दर की दीवानगिरी छोड़ने के बाद वह 'राजस्थानिक कोर्ट' के सभासद रहे थे। इसके पश्चात् राजकोट में और फिर कुछ समय वांकानेर में दीवान रहे। मृत्यु के समय राजकोट दरबार के पेंशनर थे।

कबा गांधी के भी एक-एक करके चार विवाह हुए थे। पहली दो पत्नियों से दो लड़कियां थीं; अन्तिम पुतलीबाई से एक कन्या और तीन पुत्र हुए, जिनमें सबसे छोटा मैं हूँ।

पिताजी ने शिक्षा केवल अनुभव द्वारा प्राप्त की थी। आज की अपर प्राइमरी के बराबर उनकी पढ़ाई हुई थी। इतिहास, भूगोल बिलकुल नहीं पढ़े थे। फिर भी व्यावहारिक ज्ञान इतने ऊँचे दरजे का था कि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्रश्नों को हल करने में अथवा हजार आदमियों से काम लेने में उन्हें कठिनाई न होती थी। धार्मिक शिक्षा नहीं के बराबर हुई थी। परन्तु मन्दिरों में

जाने से, कथा-पुराण सुनने से जो धर्मज्ञान असंख्य हिन्दुओं को सहज ही मिलता रहता है, वह उन्हें था। अपने अन्तिम दिनों में एक विद्वान ब्राह्मण की सलाह से जो कि हमारे कुटुम्ब के मित्र थे, उन्होंने गीता-पाठ शुरू किया था, और नित्य कुछ श्लोक पूजा के समय ऊँचे स्वर से पाठ किया करते थे।

माताजी साध्वी स्त्री थीं, ऐसी छाप मेरे दिल पर पड़ी है। वह बहुत भावुक थीं। पूजा-पाठ किए बिना कभी भोजन न करतीं, हमेशा हवेली—वैष्णव-मन्दिर—जाया करतीं। जब से मैंने होश सँभाला, मुझे याद नहीं पड़ता कि उन्होंने कभी चतुर्मास छोड़ा हो। कठिन-से-कठिन व्रत वह लिया करतीं और उन्हें निर्विघ्न पूरा करतीं। बीमार पड़ जाने पर भी वह व्रत न छोड़तीं। ऐसा एक समय मुझे याद है, जब उन्होंने चांद्रायणव्रत किया था, बीच में बीमार पड़ गईं, पर व्रत न छोड़ा। चतुर्मास में एक बार भोजन करना तो उनके लिए मामूली बात थी। इतने से संतोष न मानकर एक बार चतुर्मास में उन्होंने हर तीसरे दिन उपवास किया। एक साथ दो-तीन उपवास तो उनके लिए एक मामूली बात थी। एक चतुर्मास में उन्होंने ऐसा व्रत लिया कि सूर्यनारायण के दर्शन होने पर ही भोजन किया जाय। उस चौमासे में हम लड़के लोग आसमान की तरफ देखा करते कि कब सूरज दिखाई पड़े और कब मां खाना खाय। सब लोग जानते हैं कि चौमासे में बहुत बार सूर्य-दर्शन मुश्किल से होते हैं। मुझे ऐसे दिन याद हैं जबकि हमने सूर्य को निकला हुआ देखकर पुकारा है—"मां, मां, वह सूरज निकला" और जब तक मां जल्दी-जल्दी दौड़कर आती है, सूरज छिप जाता था। मां यह कहती हुई वापस जाती कि "खैर, कोई बात नहीं, ईश्वर नहीं चाहता कि आज खाना मिले" और अपने कामों में मशगूल हो जाती।

माताजी व्यवहारकुशल थीं। राजदरबार की सब बातें जानती थीं। रनवास में उनकी बुद्धिमत्ता ठीक-ठीक आंकी जाती थी। जब मैं बच्चा था, मुझे दरबारगढ़ में कभी-कभी वह साथ ले जाती थीं और 'बामां—साहब

(ठाकुर साहब की विधवा माता) के साथ उनके कितने ही संवाद मुझे अब भी याद हैं।

इन माता-पिता के यहां आश्विन वदी १२ संवत् १९२५ अर्थात् २ अक्टूबर १८६९ ई० को पोरबन्दर अथवा सुदामापुरी में मेरा जन्म हुआ।

बाल्यावस्था

पोरबन्दर से पिताजी 'राजस्थानिक कोर्ट' के सभ्य होकर जब राजकोट गए तब मेरी उम्र कोई सात साल की होगी। राजकोट की देहाती पाठशाला में मैं भरती कराया गया। इस पाठशाला के दिन मुझे अच्छी तरह याद हैं। मास्टरों के नाम-ठाम भी याद हैं। वहां की पढ़ाई के संबंध में कोई खास बात जानने लायक नहीं। मामूली विद्यार्थी भी मुश्किल से माना जाता होऊँगा। पाठशाला से फिर ऊपर के स्कूल में—और वहां से हाई स्कूल में गया। यहां तक पहुँचते हुए मेरा बारहवां साल पूरा हो गया। मुझे न तो यही याद है कि अबतक मैंने किसी भी शिक्षक से झूठ बोला हो, न यही कि किसी से मित्रता जोड़ी हो। बातयह थी कि मैं बहुत झेंपू लड़का था, मदरसे में अपने काम से काम रखता। घंटी लगते समय पहुँच जाता, फिर स्कूल बन्द होते ही घर भाग आता। 'भाग आता' शब्द का प्रयोग मैंने जान-बूझकर किया है, क्योंकि मुझे किसी के साथ बातें करना न सुहाता था—मुझे यह डर भी बना रहता कि 'कहीं कोई मेरी दिल्लगी न उड़ाए ?'

हाई स्कूल के पहले ही साल की परीक्षा के समय की एक घटना लिखने योग्य है। शिक्षा-विभाग के इंस्पेक्टर, जाइल्स साहब, निरीक्षण करने आए। उन्होंने पहली कक्षा के विद्यार्थियों को पांच शब्द लिखवाए। उनमें एक शब्द था 'केटल' (kettle)। उसे मैंने गलत लिखा। मास्टर साहब ने मुझे अपने बूट से टल्ला लेकर चेताया। पर मैं क्यों चेतने लगा ? मेरे दिमाग में यह बात न आई कि मास्टर साहब मूझे आगे की स्लेट देखकर सही लिखने

का इशारा कर रहे हैं। मैं यह मान रहा था कि मास्टर साहब यह देख रहे हैं कि हम दूसरे से नकल तो नहीं कर रहे हैं। सब लड़कों के पांचों शब्द सही निकले, एक मैं ही बुद्धू साबित हुआ। मास्टर साहब ने बाद में मेरी यह 'मूर्खता' मुझे समझाई; परन्तु उसका मेरे दिल पर कोई असर न हुआ। दूसरों की नकल करना मुझे कभी न आया।

ऐसा होते हुए भी मास्टर साहब का अदब रखने में मैंने कभी गलती न की। बड़े-बूढ़ों के ऐब न देखने का गुण मेरे स्वभाव में ही था। बाद को तो इन मास्टर साहब के दूसरे ऐब भी मेरी नजर में आए। फिर भी उनके प्रति मेरा आदर-भाव कायम ही रहा। मैं इतना जान गया था कि हमें बड़े-बूढ़ों की आज्ञा माननी चाहिए, जैसा वे कहें, करना चाहिए; पर वे जो कुछ करें उसके काजी हम न बनें।

इसी समय और दो घटनाएँ हुईं, जो मुझे याद नहीं हैं। मामूली तौर पर मुझे कोर्स की पुस्तकों के अलावा कुछ भी पढ़ने का शौक न था। इस ख्याल से कि अपना पाठ याद रखना उचित है, नहीं तो उलाहना सहना होगा और मास्टर साहब से झूठ बोलना ठीक नहीं, मैं पाठ याद करता; पर मन न लगा करता। इससे सबक कई बार कच्चा रह जाता। तो फिर दूसरी पुस्तकें पढ़ने की तो बात ही क्या ? परन्तु पिताजी एक 'श्रवण-पितृभक्ति' नामक नाटक खरीद लाए थे, उसपर मेरी नजर पड़ी। उसे पढ़ने का दिल चाहा। बड़े चाव से मैंने उसे पढ़ा। इन्हीं दिनों शीशे में तसवीर दिखानेवाले लोग भी आया करते। उनमें मैंने यह चित्र भी देखा कि श्रवण अपने माता-पिता को कांवर में बैठाकर तीर्थयात्रा के लिए जा रहा है। ये दोनों चीजें मेरे अन्तस्थल पर अंकित हो गईं। मेरे मन में यह बात उठा करती कि मैं भी श्रवण की तरह बनूं। श्रवण जब मरने लगा तो उस समय उसके माता-पिता का विलाप अब भी याद है। उस ललित छंद को मैं बाजे पर भी बजाया

करता । वाजा सीखने का मुझे शौक था और पिताजी ने एक वाजा खरीद भी दिया था ।

इसी अरसे में एक नाटक-कंपनी आई और मुझे उसका नाटक देखने की छुट्टी मिली । हरिश्चन्द्र का खेल था । इसको देखने में मैं अघाता न था, वार-वार उसे देखने को मन हुआ करता । पर यों वार-वार जाने कौन देने लगा ? लेकिन अपने मन में मैंने इस नाटक को सैकड़ों वार खेला होगा । हरिश्चन्द्र के सपने आते । यही धुन समाई कि, हरिश्चन्द्र की तरह सत्यवादी सव क्यों न हों ?' यही धारणा जमी कि हरिश्चन्द्र-जैसी विपत्तियां भोगना, पर सत्य न छोड़ना ही सच्चा सत्य है । मैंने यही मान लिया था कि नाटक में जैसी विपत्तियां हरिश्चन्द्र पर पड़ी हैं, वैसी ही वास्तव में उसपर पड़ी होंगी । हरिश्चन्द्र के दुखों को देखकर, उन्हें याद कर-कर मैं खूव रोया हूँ । आज मेरी वुद्धि कहती है कि संभव है, हरिश्चन्द्र कोई ऐतिहासिक व्यक्ति न हों । पर मेरे हृदय में तो हरिश्चन्द्र और श्रवण आज भी जीवित हैं । आज भी यदि मैं उन नाटकों को पढ़ पाऊँ तो आंसू आए विना न रहें ।

हाई स्कूल में

हाई स्कूल में मैं वुद्धू नहीं माना जाता था । शिक्षकों का प्रेम हमेशा सम्पादन करता रहा । हर साल मां-वाप को विद्यार्थी की पढ़ाई तथा चाल-चलन के संवंध में स्कूल से प्रमाण-पत्र भेजे जाते । उनमें किसी वार मेरी पढ़ाई या चाल-चलन की शिकायत नहीं की गई । दूसरे दर्जे के वाद तो इनाम भी पाए और पांचवें तथा छठे दर्जे में तो क्रमशः ४ (और १०) मासिक की छात्रवृत्तियां भी मिली थीं । छात्र-वृत्ति मिलने में मेरी योग्यता की अपेक्षा तकदीर ने ज्यादा मदद की । छात्रवृत्तियाँ सव लड़कों के लिए नहीं थीं, सिर्फ सोरठ प्रान्त के विद्यार्थियों के लिए ही थीं और उस समय चालीस-पचास विद्यार्थियों की कक्षा में सोरठ प्रांत के विद्यार्थी वहुत नहीं हो सकते थे ।

अपनी तरफ से तो मुझे याद पड़ता है कि मैं अपने को बहुत योग्य नहीं समझता था। इनाम अथवा छात्रवृत्ति मिलती तो मुझे आश्चर्य होता; परन्तु हां, अपने आचरण का मुझे बड़ा खयाल रहता था। सदाचार में यदि चूक होती तो मुझे रोना आ जाता। यदि मुझसे कोई ऐसा काम बन पड़ता कि जिसके लिए शिक्षक को उलाहना देना पड़े, अथवा उनका ऐसा खयाल भी हो जाय तो यह मेरे लिए असह्य हो जाता। मुझे याद है कि एक बार मैं पिटा भी था। मुझे इस बात पर तो दुःख न हुआ कि पिटा, परन्तु इस बात का महादुःख हुआ कि मैं दण्ड का पात्र समझा गया। मैं फूट-फूटकर रोया। यह घटना पहली अथवा दूसरी कक्षा की है। दूसरी घटना सातवें दरजे की है। उस समय दोराबजी एदलजी गीमी हेडमास्टर थे। वह विद्यार्थी-प्रिय थे; क्योंकि वह सबसे नियमों का पालन करवाते, विधिपूर्वक काम करते और काम लेते तथा पढ़ाई अच्छी करते। उन्होंने ऊँचे दरजे के विद्यार्थियों के लिए कसरत-क्रिकेट अनिवार्य कर दिया था। लेकिन मुझे उनसे अरुचि थी। अनिवार्य होने के पहले तो मैं कसरत, क्रिकेट या फुटबाल में कभी न जाता था। न जाने, मेरा झेंपूपन भी एक कारण था। परन्तु अब मैं देखता हूँ कि कसरत की वह अरुचि मेरी भूल थी। उस समय मेरे ऐसे गलत विचार थे कि कसरत का शिक्षा के साथ कोई संबंध नहीं। पीछे जाकर मैंने समझा कि व्यायाम अर्थात् शारीरिक शिक्षा के लिए भी विद्याध्ययन में उतना ही स्थान होना चाहिए जितना मानसिक शिक्षा को है।

फिर भी मुझे कहना चाहिए कि कसरत में न जाने से मुझे कोई नुकसान न हुआ। इसका कारण है। पुस्तकों में मैंने पढ़ा था कि खुली हवा में घूमना अच्छा होता है। यह मुझे पसन्द आया और तभी से—हाई स्कूल के दिनों से —घूमने जाने की आदत मुझे पड़ गई थी, जो अबतक है। घूमना भी एक प्रकार का व्यायाम ही है और इस कारण मेरा शरीर थोड़ा-बहुत गठीला हो गया।

अरुचि का दूसरा कारण था पिताजी की सेवा-शुश्रूषा करने की तीव्र इच्छा। स्कूल बन्द होते ही तुरत घर पहुँचकर उनकी सेवा में जुट जाता। लेकिन जब कसरत अनिवार्य कर दी गयी तब इस सेवा में विघ्न आने लगा। मैंने गीमी साहब से अनुरोध किया कि पिताजी की सेवा करने के लिए मुझे कसरत से माफी मिलनी चाहिए, परन्तु वे क्यों माफी देने लगे? एक शनिवार को सुबह का स्कूल था। शाम को चार बजे कसरत में जाना था। मेरे पास घड़ी न थी। आकाश में बादल छा रहे थे, इस कारण समय का पता न चला। बादलों से मुझे धोखा हुआ। जबतक कसरत के लिए पहुँचता हूँ तब तक तो सब लोग चले गए थे। दूसरे दिन गीमी साहब ने हाजिरी देखी तो मुझे गैरहाजिर पाया। मुझसे कारण पूछा। कारण तो जो था, सो ही मैंने बताया। उन्होंने उसे सच न माना और मुझ पर एक या दो आना जुर्माना हो गया। मुझे इस बात से अत्यन्त दुःख हुआ कि मैं झूठा समझा गया। मैं यह कैसे साबित करता कि मैं झूठ नहीं बोला। पर कोई उपाय न रहा था। मन मसोसकर रह जाना पड़ा। मैं रोया और समझा कि सच बोलनेवाले और सच करनेवाले को गाफिल भी न रहना चाहिए। अपनी पढ़ाई के दरमियान मुझसे ऐसी गफलत पहली और आखिरी थी। मुझे कुछ-कुछ स्मरण है कि अंत में मैं वह जुर्माना माफ करा पाया था।

अंत में कसरत से छुट्टी मिल ही गई। पिताजी की चिट्ठी जब हेड मास्टर को मिली कि मैं अपनी सेवा-शुश्रूषा के लिए स्कूल के बाद इसे अपने पास चाहता हूँ, तब उससे छुटकारा मिल गया।

व्यायाम की जगह मैंने घूमना जारी रक्खा। इस कारण शरीर से मेहनत न लेने की भूल के लिए शायद मुझे सजा न भोगनी पड़ी हो; परन्तु एक दूसरी भूल की सजा मैं आजतक पा रहा हूँ। पढ़ाई में खुशखत होने की जरूरत नहीं, यह गलत खयाल मेरे मन में जाने कहां से आ घुसा था, जो ठेठ

विलायत जाने तक रहा। फिर, और खासकर दक्षिण अफ्रिका में, जहां वकीलों के और दक्षिण अफ्रिका में जन्मे और पढ़े नवयुवकों के मोती की तरह अक्षर देखे, तब तो बहुत लजाया और पछताया। मैंने देखा कि बेडौल अक्षर होना अधूरी शिक्षा की निशानी है। अतः मैंने पीछे से अपना खत सुधारने की कोशिश भी की, परन्तु, पक्के घड़े पर कहीं मिट्टी चढ़ सकती है? जवानी में जिस बात की अवहेलना मैंने की उसे मैं फिर आजतक न सुधार सका। अतः हरेक नवयुवक और युवती मेरे इस उदाहरण को देखकर चेतें और समझें कि सुलेख शिक्षा का एक आवश्यक अंग है। सुलेख के लिए चित्रकला आवश्यक है। मेरी तो यह राय बनी है कि बालकों को आलेखन-कला पहले सिखानी चाहिए।

इस समय के मेरे विद्यार्थी-जीवन की दो बातें लिखने जैसी हैं। मैं छः महीने तीसरे दरजे में रहा और गर्मियों की छुट्टी के पहलेवाली परीक्षा के बाद चौथे दरजे में चढ़ा दिया गया। इस कक्षा में कुछ विषयों की शिक्षा अंग्रेजी में दी जाती है, पर अंग्रेजी में कुछ न समझ पाता। भूमिति—रेखागणित भी चौथे दरजे से शुरू होता है। एक तो मैं उसमें कमजोर था, और फिर समझ में भी कुछ न आता था। भूमिति-शिक्षक पढ़ाने में तो अच्छे थे, पर मेरी कुछ समझ ही में न आता था। इससे मैं बहुत बार निराश हो जाता। कभी-कभी यह दिल में आता कि दो दरजों की पढ़ाई एक साल में करने से तो अच्छा है कि मैं तीसरी कक्षा में ही फिर चला जाऊँ। पर ऐसा करने से मेरी बात बिगड़ती और जिस शिक्षक ने मेरी मेहनत पर विश्वास रखकर दरजा चढ़ाने की सिफारिश की थी, उनकी भी बात बिगड़ती। इस भय से नीचे उतरने का विचार तो बन्द ही रखना पड़ा। आखिर परिश्रम करते-करते जब 'युक्लिड' के तेरहवें प्रमेय तक पहुँचा तब मुझे एकाएक लगा कि भूमिति तो [illegible]से सहज विषय है। जिस बात में केवल बुद्धि का सीधा और सरल उपयोग

ही करना है उसमें मुश्किल क्या है ? उसके वाद से भूमिति मेरे लिए बड़ा सहज और रोचक विषय हो गया ।

संस्कृत मुझे रेखागणित से भी अधिक मुश्किल मालूम पड़ी । रेखा-गणित में तो रटने की कोई वात न थी परन्तु संस्कृत में, मेरी समझ से रटना-ही-रटना था । यह विषय भी चौथी कक्षा से शुरू होता था । आखिर छठी कक्षा में जाकर मेरा दिल वैठ गया । संस्कृत-शिक्षक वड़े सख्त आदमी थे । विद्यार्थियों को वहुतेरा पढ़ा देने का लोभ उन्हें रहा करता । संस्कृत-वर्ग और फारसी-वर्ग में एक प्रकार की प्रतिस्पर्धा रहती । फारसी के मौलवी साहव नरम आदमी थे । विद्यार्थी लोग आपस में वातें करते कि फारसी वड़ी सरल है, और मौलवी साहव भी भले आदमी हैं । विद्यार्थी जितना याद करता है, उतने ही पर वह निभा लेते हैं । सहज होने की वात से मैं भी लल-चाया और एक दिन फारसी के दरजे में जाकर वैठा । संस्कृत-शिक्षक को इससे वड़ा दुःख हुआ । उन्होंने मुझे वुलाकर कहा—'यह तो सोचो कि तुम किसके लड़के हो ? अपने धर्म की भाषा तुम नहीं पढ़ना चाहते ? तुमको जो कठिनाई हो सो सो मुझे वताओ । मैं तो सारे विद्यार्थियों को अच्छी संस्कृत पढ़ाना चाहता हूँ । आगे चलकर तो उसमें तुम्हें रस की घूंटें मिलेंगी । अतः तुमको इस तरह निराश न होना चाहिए । तुम फिर मेरी कक्षा में आकर वैठो ।"

मैं वड़ा लज्जित हुआ । उन शिक्षक के इस प्रेम की अवहेलना न कर सका । आज मेरी अंतरात्मा कृष्णशंकर मास्टर का उपकार मानती है, क्योंकि जितनी संस्कृत मैंने उस समय पढ़ी थी, यदि उतनी भी न पढ़ा होता तो आज मैं संस्कृत-शास्त्रों का जो आनन्द ले रहा हूँ, वह न ले पाता । वल्कि मुझे तो इस वात का पछतावा रहता है कि मैं अधिक संस्कृत न पढ़ सका; क्योंकि आगे चलकर मैंने समझा कि किसी भी हिन्दू-वालक को संस्कृत का अच्छा अध्ययन किए विना न रहना चाहिए ।

धर्म की झलक

छः-सात साल की उम्र से लेकर सोलह वर्ष तक विद्याध्ययन किया; परन्तु स्कूल में कहीं धर्म-शिक्षा न मिली। जो चीज शिक्षक के पास से सहज ही मिलनी चाहिए, वह न मिली। फिर भी वायु-मण्डल में से तो कुछ-न-कुछ धर्म-प्रेरणा मिला ही करती। यहां धर्म का व्यापक अर्थ करना चाहिए। धर्म से मेरा अभिप्राय है आत्मभान से, आत्मज्ञान से।

वैष्णव-सम्प्रदाय में जन्म होने के कारण बार-बार 'वैष्णव-मंदिर' जाना होता था। परन्तु उसके प्रति श्रद्धा न उत्पन्न हुई। मंदिर का वैभव मुझे पसन्द न आया। मन्दिरों में होनेवाले अनाचारों की बातें सुन-सुनकर मेरा मन उसके संबंध में उदासीन हो गया। वहां से मे मुझे कोई लाभ न मिला।

परन्तु जो चीज मुझे इस मन्दिर से न मिली, वह अपनी दाई के पास से मिल गई। वह हमारे कुटुम्ब में एक पुरानी नौकरानी थी। उसका प्रेम मुझे आज भी याद आता है। मैं भूत, प्रेत आदि से डरा करता था। इस रंभा ने मुझे बताया कि इसकी दवा 'राम-नाम' है। किन्तु राम-नाम की अपेक्षा रंभा पर मेरी अधिक श्रद्धा थी। इसलिए बचपन में मैंने भूत, प्रेतादि से बचने के लिए राम-नाम का जप शुरू किया। वह सिलसिला यों बहुत दिन तक जारी न रहा; परन्तु जो बीजारोपण बचपन में हुआ, वह व्यर्थ न गया। राम-नाम जो आज मेरे लिए एक अमोघ शक्ति हो गया है, उसका कारण यह रंभाबाई का बोया हुआ बीज ही है।

मेरे चचेरे भाई रामायण के भक्त थे। इसी अरसे में उन्होंने हम दो भाइयों को 'राम रक्षा' का पाठ सिखाने का प्रबन्ध किया। हमने उसे मुखाग्र करके प्रातःकाल स्नान के बाद पाठ करने का नियम बनाया। जबतक पोरबन्दर में रहे, तबतक तो यह निभता रहा। परन्तु राजकोट के वातावरण में उसमें शिथिलता आ गई। इस क्रिया पर भी कोई खास श्रद्धा न थी। दो

कारणों से 'राम-रक्षा' का पाठ करता था। एक तो मैं बड़े भाई को आदर की दृष्टि से देखता था, दूसरे मुझे गर्व था कि मैं 'राम-रक्षा' का पाठ शुद्ध उच्चारण-सहित करता हूँ।

परन्तु जिस चीज ने मेरे दिल पर गहरा असर डाला वह तो थी रामायण का परायण। पिताजी की बीमारी का बहुतेरा समय पोरबन्दर में गया। वहां वह रामजी के मन्दिर में रोज रात को रामायण सुनते। कथा कहनेवाले थे रामचन्द्रजी के परम भक्त बीलेश्वर के लाधा महाराज। उनके संबंध में यह आख्यायिका प्रसिद्ध थी कि उन्हें कोढ़ हो गया था। उन्होंने कुछ दवा न की—सिर्फ बीलेश्वर महादेव पर चढ़े हुए बिल्वपत्रों को कोढ़वाले अंगों पर बांधते रहे और राम-नाम का जप करते रहे; अन्त में उनका कोढ़ समूल नष्ट हो गया। यह बात चाहे सच हो या झूठ, हम सुननेवालों ने तो सच ही मानी। हां, यह जरूर सच है कि लाधा महाराज ने जब कथा आरम्भ की थी, उनका शरीर बिलकुल नीरोग था। लाधा महाराज का स्वर मधुर था। वह दोहा-चौपाई गाते और अर्थ समझाते। खुद उसके रस में लीन हो जाते और श्रोताओं को भी लीन कर देते। मेरी अवस्था इस समय कोई तेरह साल की होगी, पर मुझे याद है कि उनकी कथा में मेरा बड़ा मन लगता था। रामायण पर जो मेरा अत्यन्त प्रेम है, उसका कारण यही रामायण-श्रवण है। आज मैं तुलसीदास की रामायण को भक्ति-मार्ग का सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूँ।

कुछ महीने बाद हम राजकोट आए। वहां ऐसी कथा न होती थी। हां, एकादशी को भागवत अलबत्ता पढ़ी जाती थी। कभी-कभी मैं वहां जाकर बैठता, परन्तु कथा-साहित्य उसे रोचक न बना पाते थे। आज मैं समझता हूं कि भागवत ऐसा ग्रन्थ है कि इसे पढ़कर धर्मरस उत्पन्न किया जा सकता है। मैंने उसका गुजराती अनुवाद बड़े चाव-भाव से पढ़ा है। परन्तु मेरे इक्कीस दिन के उपवास में जब भारत-भूषण पंडित मदनमोहन मालवीय जी के श्रीमुख से मूल संस्कृत के कितने ही अंश मैंने सुने तो मुझे ऐसा लगा कि

वचपन में यदि उनके सदृश भगवद्भक्त के मुंह से भागवत सुनी होती तो वचपन में ही मेरी गाढ़-प्रीति उस पर जम जाती । मैं अच्छी तरह इस वात का अनुभव कर रहा हूँ कि वचपन में पड़े शुभ-अशुभ संस्कार वड़े गहरे हो जाते हैं और इसीलिए यह वात अव मुझे वहुत खल रही है कि लड़कपन में कितने ही अच्छे ग्रन्थों का श्रवण-पठन न हो पाया ।

राजकोट में मुझे सव सम्प्रदायों के प्रति समानभाव रखने की शिक्षा अनायास मिली । हिन्दू-धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रति आदर-भाव रखना सीखा; क्योंकि माता-पिता वैष्णव-मन्दिर में जाते थे, शिवालय भी जाते व राम-मन्दिर भी जाते थे, और हम भाइयों को भी ले जाते अथवा भेज देते थे ।

फिर पिता के पास एक-न-एक जैन धर्माचार्य अवश्य आया करते । पिताजी भिक्षा देकर उनका आदर-सत्कार भी करते । वे पिताजी के साथ धर्म तथा व्यवहार-चर्चा किया करते । इसके सिवा पिताजी के मुसलमान तथा पारसी मित्र भी थे । वे अपने धर्म की वातें सुनाया करते और पिताजी वहुत वार आदर और अनुराग के साथ उनकी वातें सुनते । मैं पिताजी का 'नर्स' था, इसलिए ऐसी चर्चा के समय में भी प्रायः उपस्थित रहा करता । इस सारे वायुमण्डल का यह असर हुआ कि मेरे मन में सव धर्मों के प्रति समान भाव पैदा हुआ ।

हां, ईसाई धर्म इसमें अपवाद था । उसके प्रति तो जरा अरुचि ही उत्पन्न हो गई । इसका कारण था । उस समय हाईस्कूल के एक कोने में एक ईसाई व्याख्यान दिया करते थे । वह हिन्दू-नेताओं और हिन्दू-धर्मवालों की निन्दा किया करते । यह मुझे सहन न होता । मैं एकाध ही वार इन व्याख्यानों को सुनने के लिए खड़ा रहा होऊँगा, पर फिर वहां खड़ा होने का जी न चाहा । इसी समय सुना कि एक प्रसिद्ध हिन्दू ईसाई हो गये हैं । गांव में यह चर्चा फैली हुई थी कि उन्हें जव ईसाई वनाया गया तव गो-मांस खिलाया गया और शराव पिलाई गई । उनका लिवास भी वदल दिया गया और ईसाई

होने के वाद वह सज्जन कोट-पतलून और हैट लगाने लगे। यह देखकर मुझे व्यथा पहुँची। 'जिस धर्म में जाने के लिए गो-मांस खाना पड़ता हो, शराब पीनी पड़ती हो और अपना पहनावा वदलना पड़ता हो उसे क्या धर्म कहना चाहिए ?' मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ। फिर तो यह भी सुना कि ईसाई हो जाने पर यह महाशय अपने पूर्वजों के धर्म की, रीति-रिवाज की, और देश की भरपेट निंदा करते फिरते हैं। इन सब वातों से मेरे मन में ईसाई-धर्म के प्रति अरुचि उत्पन्न हो गई।

इस प्रकार यद्यपि दूसरे धर्मों के प्रति सद्भाव उत्पन्न हुआ, तो भी यह नहीं कह सकते कि ईश्वर के प्रति मेरे मन में श्रद्धा थी। इस समय पिताजी के पुस्तक-संग्रह से मनुस्मृति का भाषान्तर मेरे हाथ पड़ा। उसमें सृष्टि की उत्पत्ति आदि का वर्णन पढ़ा। उसपर श्रद्धा न जमी। उलटे कुछ नास्तिकता आ गई। अपने चचेरे भाई की वुद्धि पर मुझे विश्वास था। उनके सामने मैंने अपनी शंकाएँ रक्खीं। परन्तु वह मेरा समाधान न कर सके। उन्होंने उत्तर दिया—"वड़े होने पर इन प्रश्नों का उत्तर तुम्हारी वुद्धि अपने-आप देने लगेगी। ऐसे-ऐसे सवाल वच्चों को न पूछने चाहिए।" मैं चुप हो रहा, पर मन को शान्ति न मिली। मनुस्मृति के खाद्याखाद्य-प्रकरण में तथा दूसरे प्रकरणों में भी प्रचलित प्रथा का विरोध दिखाई दिया। इस शंका का उत्तर भी मुझे प्रायः ऊपर लिखे अनुसार ही मिला। तव यह ही सोचकर मन को समझा लिया कि एक-न-एक दिन वुद्धि का विकास होगा, तव अधिक पठन और मनन करूँगा और तव सव कुछ समझ में आने लगेगा।

सरदार वल्लभभाई पटेल

[सरदार वल्लभभाई पटेल भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में लौह पुरुष के रूप में विख्यात थे। भारत के स्वतन्त्र होते ही उन्होंने भारतीय रियासतों का राज्य में विलीनीकरण कर रियासतों की जनता को अनेक कष्टों से बचाया। भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम में वह महात्मा गांधी के दाहिने हाथ समझे जाते थे। उनके सम्बन्ध में केन्द्रीय लोकसभा के अध्यक्ष श्री जी० वी० मावलंकर ने जो संस्मरण लिखा है उससे उनकी विशेषताओं का पूरा परिचय मिल जाता है आगे की पंक्तियों में उसे ही पढ़िए।]

मेरा ध्यान सन् १९१३ की ओर वापस जाता है। सरदार १३ फरवरी, १९१३ को जहाज से बम्बई उतरे, और दूसरे दिन सवेरे अहमदाबाद आए। वे उस समय के चीफ़ जस्टिस सर बसिल स्काट से भलीभाँति परिचित थे और इसलिए स्वभावतः उनसे बम्बई में मिले। सर बसिल ने बड़ी आवभगत से उन्हें लिया और यदि वल्लभभाई रुक जायँ, तो सभी तरह की सहायता देने का वचन दिया जिसमें गवर्नमेंट लॉ स्कूल की अध्यापिका भी सम्मिलित थी। कालिज उस समय स्कूल कहलाता था, लेकिन बम्बई की कानूनी दुनिया की सबसे अच्छी जगह के लिए वल्लभभाई के दिल में कोई आकर्षण और इच्छा नहीं थी, और उन्होंने अहमदाबाद आने को विशेषता दी। अपने आदमियों की सेवा करने की उनकी अपनी योजनाएँ थीं और भावी सार्वजनिक कार्यों के लिए उन्होंने अहमदाबाद को केन्द्र चुना। यह कैसा संयोग था कि दो वर्ष के पश्चात् गांधीजी ने भी इसी स्थान को चुना ! देश के सभी मित्र अहमदाबाद की जनता के अभिमान और देशभक्ति की सराहना अवश्य करेंगे, जब कि उनके हृदय यह सोच कर प्रफुल्लित हैं कि पिछले तीस सालों में उन्होंने—उनके शहर ने हिन्दुस्तान को राष्ट्रीयता को मूर्तरूप देने और इसका नेतृत्व करने में इतना महान् योग दिया है।

एक फुर्तीला नौजवान अच्छे कटे हुए सूट और फेल्ट हैट को पहने था, प्रभावशाली और चमकीली आंखोंवाला यह व्यक्ति बहुत बातचीत न करता था; अपने अतिथि का स्वागत वह केवल एक मुस्कान से ही करता था; स्थिर और उदास चेहरे के साथ ऐसा मालूम होता था कि वह अन्य सबको नीची निगाह से देखता है; वह जब कभी बात करता विश्वास और श्रेष्ठता की झलक प्रकट होती और उसका रुख हमेशा कठोर और गम्भीर मालूम होता था। इस भाँति का वही नया बैरिस्टर था जो वकालत करने के लिए अहमदाबाद आया था। नया बैरिस्टर स्वभावतः अन्य मातहत वकीलों के लिए ध्यान देने की वस्तु था। उसका व्यक्तित्व और आचरण सभी अपना आकर्षण रखते थे। ऐसा मालूम होता था कि वह आकर्षण, सम्मान, भय की भावनाओं के साथ ही शायद अधिकृत उपेक्षा की दृष्टि से भी दूसरों की ओर देखता है।

एक वकील की दृष्टि से अधिकतर वे फौजदारी के मुकदमे करते थे। वे गवाहों से बहुत थोड़ी जिरह करते थे, लेकिन वह असली होती थी; साथ ही आदमी परखने की उनमें इतनी अच्छी प्रतिभा थी कि गवाह पर एक तीखी दृष्टि डालने से ही वे समझ जाते थे कि यह किस भाँति का है और उसी के अनुसार उससे जिरह करते थे। मुकदमा करते समय उनकी तथ्य-सम्बन्धी पटुता और विरोधी पक्ष का उचित और सही अन्दाज भलीभाँति प्रकट हो हो जाता था। वे मुकदमे का बचाव और विरोधी पर आक्रमण भी बहुत देखभाल के बाद करते थे। लेकिन सबसे अधिक आकर्षक विशेषता, जिसने हर एक का ध्यान आकर्षित कर उनके प्रति प्रेम उत्पन्न किया, यह उनकी निर्भीकता थी। वे जज को शिष्टाचार की सीमाओं से जरा भी परे न होने देते और न अदालत का अन्यायपूर्ण और अनुचित रूप से पुलिस या सरकारी पक्ष की ओर झुकना ही सहन कर सकते थे।

वकालत करते समय धन कमाना अथवा आराम और व्यक्तिगत आनन्द

का जीवन व्यतीत करना उनका आदर्श नहीं था। वे एक निर्धन माता-पिता की सन्तान थे। एक किसान की तरह उनका पालन-पोषण हुआ और साथ ही वे ग्रामीणों की परेशानियों को भी जानते थे। इसीसे सदैव जाति सेवा का विचार उनमें रहता था। उन्हें अपनी पढ़ाई के लिए बहुत परिश्रम करना पड़ा था और वह पूरी तरह से आत्मनिर्भर रहे थे। पहले दिनों की इन परेशानियों ने ही उन्हें आज का व्यक्ति बनाया। प्रतिभा के साथ ही आत्मनिर्भरता, दृढ़ निश्चय और अध्यवसाय आदि गुण उन्हें दैवी वरदान के रूप में मिले थे।

श्री वल्लभभाई, भारतवर्ष आते ही तुरन्त सार्वजनिक-जीवन में प्रविष्ट नहीं हुए, यद्यपि यह उनके जीवन का विशेष उद्देश्य था। वह सावधानी से देख रहे थे और सम्पर्क स्थापित कर रहे थे। उस समय सार्वजनिक जीवन केवल वकील वर्ग तक ही सीमित था। गांधीजी भी, जिन्होंने कि १९१५ में अहमदाबाद सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ किया था, इच्छुक थे कि अहमदाबाद के जनप्रिय नेताओं से सम्पर्क स्थापित करें। इसी विचार से वे गुजरात-क्लब में एक या दो बार गए कि वहां अपने सत्याग्रह आश्रम के विचार लोगों को समझा सकें। वल्लभभाई बिलकुल अलग रहे और वे गांधीजी के विचारों और योजनाओं के विषय में संदेह करते थे तथा आलोचना किया करते थे। वे अपना दृष्टिकोण व्यक्त करने में बड़े बेरहम और रूखे थे। जब गांधीजी क्लब में आए, उस समय वल्लभभाई अपने साथी के साथ ब्रिज खेल रहे थे। श्री ठाकर और मैं उनके पास बैठे हुए खेल देख रहे थे। जब मैं उस स्थान पर जाने को उठने लगा, जहां पर गांधीजी थे, वल्लभभाई ने व्यंगोक्तियों के द्वारा मुझे हतोत्साहित कर वहां जाने और सुनने से रोका। क्या कोई उस समय सोच भी सकता था कि यही आदमी गांधीजी के दर्शन का एक विश्वस्त अनुयायी और कट्टर भक्त होगा तथा उनके नेतृत्व में दृढ़ विश्वास रक्खेगा? लेकिन यह परिवर्तन धीरे धीरे गांधीजी के सम्पर्क और सहकारिता का परि-

णाम था, जो उनकी निस्वार्थ देशभक्ति और विशेष रूप से निर्धन और दलित वर्ग की सेवा में था।

इस तरह गांधीजी के अहमदावाद आने के दो वर्ष तक वल्लभभाई उनसे दूर बने रहे। उन्होंने १६१६ में अहमदावाद म्युनिसिपैलिटी में जाकर अपना सार्वजनिक जीवन स्वतंत्र रूप से आरम्भ कर दिया था। अपने काम के द्वारा अपने आपको पूर्ण सिद्ध करने में उन्हें समय नहीं लगा। प्रबन्ध का पूर्ण विवरण प्राप्त करने में न तो उन्होंने समय छोड़ा और न अव्यवसाय ही, और सफाई कमेटी के चेयरमैन के रूप में उन्होंने शहर की बड़ी सेवा की।

१८९६ से लेकर अकेला अहमदावाद प्लेग से बचा हुआ था, जब कि देश के दूसरे भागों में बीमारी से बहुत विध्वंस हो गया था। अक्तूबर १६१७ के लगभग स्थिति कुछ गम्भीर हो गयी। सबसे पहली बार लोग घर से बाहर झोपड़ों में रहने गए और यहां तक कि कचहरियां भी बन्द हो गयीं। सफाई कमेटी के प्रधान का उत्तरदायित्व बहुत भारी था। श्रीवल्लभभाई अपने स्थान पर जमे रहे। वे शहर में बने रहे और सदैव अपने म्युनिसिपल कर्मचारियों के साथ शहर में इधर-उधर घूमते दिखायी पड़ते थे। यह सबसे नया कार्य था, जो पूर्ववर्ती नगर-पिताओं के कार्य से एकदम विचित्र था।

अहमदावाद भी गुजरात-सभा में सम्मिलित हो गया। सभा एक राजनीतिक संघटन था, जो १८८४ में पूरे गुजरात के लिए आरम्भ किया गया था और पुरानी उदार परम्परा के आधार पर काम कर रहा था। १६१६ में बम्बई प्रांतीय सभा का अधिवेशन (सम्भवतः १६वां अधिवेशन) अहमदावाद में श्री मुहम्मदअली जिन्ना के सभापतित्व में हो रहा था। वल्लभभाई ने इसमें कोई विशेष भाग नहीं लिया, यद्यपि वे इसमें सम्मिलित हुए। वे अपनी म्युनिसिपैलिटी के काम में लगे रहे।

लगभग जुलाई, १६१७ में सर्व श्री वल्लभभाई, हरिलाल देसाई गुजरात-

सभा के मन्त्री और संयुक्त मंत्री चुने गये। इस क्लब में ही एक दिन दोपहर के पश्चात् हमलोगों ने गांधीजी की साहसिक अचलता का समाचार सुना, जो कि उन्होंने मोतीहारी (बिहार) की अदालत में मैजिस्ट्रेट के विरुद्ध अपनायी थी, जिसने उनकी जांच पर प्रतिबन्ध लगा दिया था, तथा जिसे वे बिहार में योरोपियन बाग-मालिक के मजदूरों की परिस्थिति के बारे में करना चाहते थे। गांधीजी के अहिंसात्मक विरोध का यह सबसे पहला लक्षण था। गांधीजी ने मैजिस्ट्रेट की आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया और जांच छोड़ने की अपेक्षा जेल जाना पसन्द किया। गांधीजी के इस कार्य ने क्लब में हम सभी को सजग कर दिया। स्वर्गीय दीवान बहादुर हीरालाल देसाई उछल पड़े और अपने हाथ घुमाते हुए कह उठे—"मावलंकर, यही एक बहादुर आदमी है और हमें अवश्य इसको अपना (गुजरात-सभा का) सभापति बनाना चाहिए।

यही अवसर था, जिसने, वल्लभभाई का ध्यान गुजरात-सभा की ओर आकर्षित किया, जो अभी तक म्युनिसिपैलिटी के कार्य तक ही सीमित थे। गांधीजी ने सभापति बनने का हमारा प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और यहीं से वल्लभभाई गांधीजी के कार्यों और कार्यप्रणालियों के निकट आने लगे। वल्लभभाई वीर तो थे ही, गांधी जी में भी उन्होंने अपनी बहादुरी की प्रतिध्वनि पाई। मातृभूमि की सेवा में दोनों की पारस्परिक सहकारिता इस समय ही आरम्भ हो रही थी।

सभा का कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत था और उन सभी कार्यों में वे कमेटी के सदस्य के रूप में सम्मिलित रहते और कभी-कभी पदाधिकारी भी होते थे। सौभाग्यवश सभा का मंत्री होने के कारण मैं उनके निकट अधिकाधिक आता गया, जैसे ही हमारा काम बढ़ा। सभा का एक सबसे अधिक महत्वपूर्ण राजनैतिक काम था कि किस भांति कैरा के किसानों की समस्या हल की जाय, जिनकी फसल १९१७ के मानसून के कारण खराब हो गयी थी,

भा सभी सरकारी कर्मचारियों के पास डेपुटेशन लेकर गयी—कैरा के कलेक्टर से लेकर सरकार तक और इस विषय में सभी प्रभावशाली व्यक्तियों का सक्रिय सहयोग प्राप्त किया। लेकिन नौकरशाही कठोर बनी रही और इसी विषय को आगे बढ़ाना आवश्यक हो गया। सभा के सभी सदस्य गांधीजी की कार्यवाही संबंधी योजना से पूर्ण सहमत थे, किन्तु यह अधिक अच्छा समझा गया कि एक स्वतंत्र कमेटी संगठित की जाय, जो सरकार पर दबाव डालकर मामला आगे बढ़ावे और गांधीजी ने सरकार से लिखा पढ़ी आरम्भ कर दी तथा हम सभी लोग अपने मामले के लिए प्रमाण इकट्ठे करने लगे। यही १९१७-१८ के कैरा के लगान-विरोधी मोर्चा की भूमिका थी। जो अपने विषय का सबसे प्रथम सर्वप्रिय आंदोलन था और जिसने निर्भीकता-पूर्वक सरकार के कामों को चुनौती दी तथा जनता में इसकी शक्ति के प्रति विश्वास किया।

आंदोलन की सारी कहानी बड़ी मनमोहक है लेकिन उसका वर्णन यहां नहीं किया जा सकता। यहां इतना कहना ही काफी है कि गांधीजी ने कैरा जिले में केन्द्र बनाने का निश्चय किया, लेकिन वे मोतीहारी में व्यस्त थे, अतः वे यहां लगातार नहीं रह सकते थे। समय बहुत उपयोगी था। आंदोलन विषय और संगठन भंग नहीं किया जा सकता था और इस कारण वल्लभभाई को गांधीजी का सहकारी बनने का भार अपने कंधों पर लेना पड़ा था तथा उन्होंने गांधीजी के साथ कैरा जिले में कार्य करने का निश्चय किया। यह उनका अपना जिला था और यहां उन्होंने अपना बचपन बिताया था। यहां के लोग बहादुर थे और वे वल्लभभाई को अच्छी तरह जानते थे। गांधीजी को इनसे अच्छा सहकारी न मिल सकता था। वल्लभभाई ने दिलोजान से अपने आपको आंदोलन के पीछे लगा दिया और हमारा कार्यालय भी अहमदाबाद से नडियाद परिवर्तित हो गया। गांधीजी के आंदोलन को देखने और चलाने के लिए वे यहां रहने लगे। हम सबके लिए यह एक विशेष अवसर

था, जिसमें हम लोगों ने गांधीजी के मस्तिष्क और तरीके का अध्ययन किया और साथ ही राजनीतिक क्षेत्र में उनके सत्याग्रह सम्बन्धी सत्य और अहिंसा के प्रभाव की सराहना की। यहां पर ही पहली बार वल्लभभाई साधारण जनता के बीच घूमते हुए दिखायी देते थे, अपना हैट, कोट और पैण्ट छोड़कर सादी धोती और कमीज में दिन-रात इधर-उधर फिरते थे। हिन्दुस्तान में सत्याग्रह का पहला प्रयोग सफल हुआ और दूसरों की भांति वल्लभभाई भी गांधीजी के प्रशंसक और अनुयायी बन गये।

इसके पश्चात् १६१६ ई० में राष्ट्रीय आन्दोलन का एक बड़ा संकटपूर्ण समय आया। रौलट ऐक्ट और जलियान वाला बाग ने राष्ट्र को सजग कर दिया। ६ अप्रैल की ऐतिहासिक हड़ताल; सत्याग्रह का प्रस्ताव; पलपल में गांधीजी की गिरफ्तारी; अहमदाबाद में ११ अप्रैल, १६१६ के दिन की नागरिक हलचल; बरबादी के रूप में सरकार विरोधी भावनाओं का प्रदर्शन जो कुछ जनता ने सरकारी भवनों और पुलिस चौकियों पर किया था, इस भांति की सभी घटनाएँ बड़ी तेजी के साथ बढ़ रही थीं। १६१६ ई० के उपद्रवों में वल्लभभाई ने कुछ अभियुक्तों की पैरवी की। कानूनी सलाहकार के रूप में यही उनके अन्तिम काम थे।

१६१६ के पश्चात् इंडियन नेशनल कांग्रेस के दृष्टिकोण में बड़ा आश्चर्य-जनक परिवर्तन हुआ। सितम्बर १६२० में कलकत्ता अधिवेशन ने अहिंसात्मक आन्दोलन की योजना स्वीकार कर ली। अहमदाबाद म्युनिसिपैलिटी भी इसे व्यावहारिक रूप देने में पीछे न रही। जल्दी ही में उसके बाद नागपुर अधिवेशन आया। इसके बाद दिसम्बर १६२१ में अहमदाबाद में अधिवेशन करने का निमंत्रण दिया गया और सारा देश उस साल के असहयोग प्रस्ताव से उत्साहित और सजीव हो उठा। सरदार वल्लभभाई पटेल बम्बई प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के सर्वप्रथम अध्यक्ष थे और अपने मित्र श्री इन्दुलाल याजनिक के साथ मुझे सर्व प्रथम मंत्री होने का अधिकार मिला। जब

जब अहमदाबाद में ३६वीं कांग्रेस की स्वागत-समिति के, वल्लभभाई प्रधान थे, मैं उनका प्रधान मंत्री था और उस समय हम लोग गांधीजी से पूरी तरह परिचित हो गए। उन दिनों शिक्षा के विषय में किया गया म्यूनिसिपल-आंदोलन तथा अहमदाबाद म्यूनिसिपैलिटी का तद्विषयक इतिहास, स्थानीय संस्थाओं के किसी भी विद्यार्थी के लिए आकर्षक विषय हो सकता है, जो राष्ट्रीय विकास में इन समस्याओं की सहायता का महत्व देखना चाहता है, बशर्ते कि नगर-पिता निस्वार्थ-सेवा और त्याग की भावना से प्रेरित हों।

१९२१ से लेकर अब तक उनके सार्वजनिक काम जनता को भलीभांति विदित हैं, और मैं उनका विवरण देनाआवश्यक भी नहीं समझता। १९२२ई० में नागपुर का झंडा सत्याग्रह, उनका कांग्रेस का सभापति होना; १९२८ में बारदोली आंदोलन; १९३०-३१, १९३२-३४, १९४०-४१ और १९४२-४५ के सविनय अवज्ञा आंदोलन; कांग्रेस कार्यसमिति और पार्लियामेंटरी बोर्ड के सदस्य के रूप में किये गये कार्य जनता के दिमाग में ताजे हैं। वे महान् प्रबन्धक, बड़े संगठनकर्त्ता और एक महान् योद्धा थे। लेकिन वल्लभ भाई का यह चित्र अधूरा ही रहेगा यदि मैं कुछ व्यक्तिगत विशेषताओं को इंगित न करूँ। वे एक विश्वासप्रिय मित्र थे और सभी परिस्थितियों में मित्रों और सहयोगियों के प्रति आज्ञाकारिता की भावना उनमें विलक्षण थी। उनका हृदय बड़ा कोमल और दयार्द्र था, जो कठोर और स्थिर भाव के कारण उन लोगों से छिपा हुआ है जो उनके निकट सम्पर्क में थे। मनुष्य और विषय के बारे में उनकी कुशलता और ठोस निर्णयात्मक बुद्धि के होने पर भी वह बच्चों की भांति सरल और विश्वास-भाजन थे, लेकिन वह उन्हीं के लिए जिन्हें वे अपने विश्वास का अधिकारी समझते थे। वे हर चीज को तौलते और कार्यप्रणाली को उसी ओर मोड़ देते थे, जिसकी प्राप्ति को वह देश के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझते। उनकी हाजिर-जवाबी और हास्य सब उनके अपने थे और बड़ी संकटपूर्ण स्थिति में भी उनके साथ आप इसके कारण प्रसन्न रह सकते थे।

प्रथम सत्याग्रही विनोबा

[महात्मा गांधी के सच्चे अनुयायी, 'सर्वोदय' के प्रचारक आचार्य विनोबा का नाम उनके भू-दान यज्ञ के सम्बन्ध से समग्र भारत में विख्यात हो रहा है। उनकी दार्शनिकता सरलता और हृदय की कोमलता के कारण उनको अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है। महात्मा गांधी के प्रति उनकी जैसी अगाध निष्ठा और श्रद्धा थी वैसी ही महात्मा गांधी की भी उन पर प्रीति थी। यहां विनोबा के सम्बन्ध में स्वयं महात्मा गांधी द्वारा लिखित संक्षिप्त परिचयात्मक लेख तथा भारतीय स्व-स्वतन्त्रता संग्राम के वीर सेनानी बाल गंगाधर के विषय में आचार्य विनोबा द्वारा लिखित एक संस्मरण उद्धृत किया जा रहा है।]

श्री विनोबा भावे कौन हैं? मैंने उन्हें ही इस सत्याग्रह के लिए क्यों चुना? और किसी को क्यों नहीं? मेरे हिन्दुस्तान लौटने पर सन् १९१६ में उन्होंने कालिज छोड़ा था। वे संस्कृत के पण्डित हैं। उन्होंने आश्रम में शुरु से ही प्रवेश किया था। आश्रम के सब से पहले सदस्यों में से वे एक हैं। अपने संस्कृत के अध्ययन को आगे बढ़ाने के लिए वे एक वर्ष की छुट्टी लेकर चले गये। एक वर्ष के बाद ठीक उसी घड़ी, जब कि उन्होंने एक वर्ष पहले आश्रम छोड़ा था, चुपचाप आश्रम में फिर आ पहुंचे। मैं तो भूल भी गया था कि उन्हें उस दिन आश्रम में वापस पहुंचना था। वे आश्रम में सब प्रकार की सेवा-प्रवृत्तियों रसोई से लगाकर पाखाना-सफाई तक—में हिस्सा ले चुके हैं। उनकी स्मरण शक्ति आश्चर्यजनक है। वे स्वभाव से ही अध्ययनशील हैं। पर अपने समय का ज्यादा-से-ज्यादा हिस्सा वे कातने में ही लगाते हैं, और उसमें ऐसे पटु हो गये हैं कि बहुत ही कम लोग उनकी तुलना में रखे जा सकते हैं। उनका विश्वास है कि व्यापक कताई को सारे कार्यक्रम का केन्द्र बनाने से ही गांवों की गरीबी दूर हो सकती है। स्वभाव से

शिक्षक होने के कारण उन्होंने श्रीमती आशादेवी को दस्तकारी के द्वारा
नियादी तालीम की योजना का विकास करने में बहुत योग दिया है। श्री
नोवा ने कताई को बुनियादी दस्तकारी मान कर एक पुस्तक भी लिखी है।
ह बिलकुल मौलिक चीज है। उन्होंने हंसी उड़ानेवालों को भी यह सिद्ध
रके दिखा दिया है कि कताई एक ऐसी अच्छी दस्तकारी है कि जिसका
पयोग बुनियादी तालीम में बखूबी किया जा सकता है। तकली कातने
तो उन्होंने क्रांति ही ला दी है; और उसके अन्दर छिपी हुई तमाम शक्तियों
ो खोज निकाला है। हिन्दुस्तान में हाथ कताई में इतनी सम्पूर्णता किसी ने
ाप्त नहीं की जितनी कि उन्होंने की है।

उनके हृदय में छुआछूत की गंध तक नहीं है। साम्प्रदायिक एकता में उनका उतना ही विश्वास है जितना कि मेरा। इस्लाम धर्म की खूबियों को समझने के लिए उन्होंने एक वर्ष तक कुरान शरीफ का मूल अरबी में अध्ययन किया। इसके लिए उन्होंने अरबी भी सीखी। अपने पड़ोसी मुसलमान भाइयों से अपना सजीव संपर्क बनाये रखने के लिए उन्होंने इसे आवश्यक समझा।

उनके पास उनके शिष्यों और कार्यकर्त्ताओं का एक ऐसा दल है जो उनके इशारे पर हर तरह का बलिदान करने को तैयार है। एक युवक ने अपना जीवन कोढ़ियों की सेवा में लगा दिया है। उसे इस काम के लिए तैयार करने का श्रेय श्री विनोवा को ही है। औषधियों का कुछ भी ज्ञान न होने पर भी अपने कार्य में अटल श्रद्धा होने के कारण उसने कुष्ठ-रोग की चिकित्सा को पूरी तरह समझ लिया है। उसने उनकी सेवा के लिए कई चिकित्सा-घर खुलवा दिये हैं। उसके परिश्रम से सैकड़ों कोढ़ी अच्छे हो गये हैं। हाल ही में उसने कुष्ठ-रोगियों के इलाज के संबंध में एक पुस्तिका मराठी में लिखी है।

विनोवा कई वर्षों तक वर्धा के महिला-आश्रम के संचालक भी रहे हैं। दरिद्रनारायण की सेवा का प्रेम उन्हें वर्धा के पास के एक गांव में खींच ले

गया । अब तो वे वर्धा से पांच मील दूर पौनार नामक गांव में जा बसे हैं और वहां से उन्होंने अपने तैयार किये हुए शिष्यों के द्वारा गांववालों के साथ संपर्क स्थापित कर लिया है । वे मानते हैं कि हिन्दुस्तान के लिये "राजनैतिक स्वतन्त्रता" आवश्यक है । वे इतिहास के निष्पक्ष विद्वान् हैं । उनका विश्वास है कि गांववालों को रचनात्मक कार्यक्रम के बगैर सच्ची आज़ादी नहीं मिल सकती और रचनात्मक कार्यक्रम का केन्द्र है खादी । उनका विश्वास है कि चरखा अहिंसा का बहुत ही उपयुक्त बाह्य चिन्ह है । उनके जीवन का तो वह एक अंग ही बन गया है । उन्होंने पिछली सत्याग्रह की लड़ाइयों में सक्रिय भाग लिया था । वे राजनीति के मंच पर कभी लोगों के सामने आये ही नहीं । कई साथियों की तरह उनका यह विश्वास है कि सविनय आज्ञा भंग के अनुसंधान में शांत रचनात्मक काम कहीं ज्यादा प्रभावकारी होता है, इसकी अपेक्षा कि जहां आगे ही राजनैतिक भाषणों का अखण्ड प्रवाह चल रहा है वहां जाकर और भाषण दिये जावें । उनका पूर्ण विश्वास है कि चर्खे में हार्दिक श्रद्धा रखे बिना और रचनात्मक कार्य में सक्रिय भाग लिये बगैर अहिंसक प्रतिकार संभव नहीं ।

श्री विनोबा युद्ध-मात्र के विरोधी हैं । परंतु वे अपनी अंतरात्मा की तरह दूसरों की अन्तरात्मा का भी उतना ही आदर करते हैं जो युद्धमात्र के विरोधी तो नहीं हैं, परंतु जिनकी अंतरात्मा युद्ध में शरीक होने की अनुमति नहीं देती ।

लोकमान्य के चरणों में

[आचार्य विनोवा भावे]

आज का नैमित्तिक धर्म लोकमान्य का पुण्य-स्मरण है। आज तिलक की पुण्य तिथि है।

१६२० में तिलक शरीर-रूप से हमारे अन्दर नहीं रहे। उस समय मैं वम्वई गया था। चार-पांच दिन पहले ही पहुँचा था, परन्तु डाक्टर ने कहा, 'अभी कोई डर नहीं है।' इसलिए मैं एक काम से सावरमती जाने को रवाना हुआ। मैं आधा रास्ता भी पार न कर पाया होऊँगा कि मुझे लोकमान्य की मृत्यु का समाचार मिला। मेरे अत्यन्त निकट के आत्मीय, सहयोगी और मित्र की मृत्यु का जो प्रभाव हो सकता है वही लोकमान्य के निधन का हुआ। मुझ पर वहुत गहरा असर हुआ। उस दिन से जीवन में कुछ नयापन-सा आ गया। मुझे ऐसा लगा मानो कोई वहुत ही प्रेम करनेवाला कुटुम्वी चल वसा हो इसमें जरा भी अत्युक्ति नहीं है। आज इतने वरस हो गए, आज फिर उनका स्मरण करना है। लोकमान्य के चरणों में अपनी यह तुच्छ श्रद्धांजलि अपनी गहरी श्रद्धा के कारण मैं चढ़ा रहा हूँ।

तिलक के विषय में जव मैं कुछ कहने लगता हूं तो मुँह से शव्द निकलना कठिन हो जाता है, गद्‌गद् हो उठता हूं। साधु-संतों का नाम लेते ही मेरी जो स्थिति होती है वही इस नाम से भी होती है। मैं अपने चित्त का भाव प्रकट ही नहीं कर सकता। उत्कट भावना को शव्दों में व्यक्त करना कठिन होता है। गीता का भी नाम लेते ही मेरी यही स्थिति हो जाती है, मानो स्फूर्ति का संचार हो जाता है। भावनाओं की प्रचण्ड वाढ़ आ जाती है। वृत्ति उमड़ने लगती है। परन्तु यह वड़प्पन मेरा नहीं है। वड़प्पन गीता का है। यही हाल तिलक के नाम का है। मैं तुलना नहीं करता। क्योंकि तुलना में सदा दोष आ जाते हैं। परन्तु जिनके नाम ही स्मरण में ऐसी स्फूर्ति

देने की शक्ति है उन्हीं में से तिलक भी हैं। मानो उनके स्मरण में ही शक्ति संचित है।

तिलक का पहला गुण कौन-सा था? तिलक जातितः ब्राह्मण थे लेकिन जो ब्राह्मण नहीं हैं वे भी उनका स्मरण कर रहे हैं। तिलक महाराष्ट्र के मराठे थे। लेकिन पंजाब के पंजाबी और बंगाल के बंगाली भी उन्हें पूज्य मानते हैं। हिंदुस्तान तिलक का ब्राह्मणत्व और उनका मराठापन, सब-कुछ भूल गया है। यह चमत्कार है। इसमें रहस्य है—दोहरा रहस्य है। इस चमत्कार में तिलक का गुण तो है ही, हमारे पूर्वजों की कमाई का भी गुण है। जनता का एक गुण और तिलक का एक गुण—दोनों के प्रभाव से यह चमत्कार हुआ कि ब्राह्मण और महाराष्ट्रीय तिलक सारे भारत में सभी जातियों द्वारा पूजे जाते हैं। दोनों के गुण की ओर हमें ध्यान देना चाहिए।

तिलक का गुण यह था कि उन्होंने जो कुछ किया उसमें सारे भारतवर्ष का विचार किया। तिलक के फूल बंबई में गिरे, इसलिए वहां उनके स्मारक-मंदिर होंगे। उन्होंने मराठी में लिखा, इसलिए मराठी भाषा में उनके स्मारक होंगे। लेकिन तिलक ने जहां कहीं जो कुछ किया—चाहे जिस भाषा में क्यों न किया हो, वह भारतवर्ष के लिये किया। उन्हें यह अभिमान नहीं था कि मैं ब्राह्मण हूँ, मैं महाराष्ट्र का हूँ। उनमें पृथकता की, भेद की भावना नहीं थी। वह महाराष्ट्रीय थे तो भी उन्होंने सारे भारतवर्ष का विचार किया। जिन अर्वाचीन महाराष्ट्रीय विभूतियों ने सारे भारतवर्ष का विचार किया, तिलक उनमें से एक थे। और दूसरे जो मेरी दृष्टि के सामने आते हैं वह थे महर्षि न्यायमूर्ति रानाडे। तिलक ने महाराष्ट्र को अपनी जेब में रखा और सारे हिंदुस्तान के लिये लड़ते रहे। "हिंदुस्तान के हित में मेरे महाराष्ट्र का भी हित है, इसीलिए पूने का हित है और पूने में रहनेवाले मेरे परिवार का हित है और परिवार में रहनेवाले मेरा भी हित है। हिंदुस्तान के हित का विचार करने से उसी में महाराष्ट्र, पूना, मेरा परिवार और मैं, सबके

हित का विचार आ जाता है।" यह तत्व उन्होंने जान लिया था, और उसी के अनुसार उन्होंने काम किया। ऐसी विशाल उनकी व्याख्या थी। जो सच्ची सेवा करना चाहता है उसे वह सेवा किसी मर्यादित स्थान में करनी पड़ेगी। लेकिन उस मर्यादित स्थान में रहकर जीनेवाली सेवा के पीछे जो वृत्ति रहेगी वह विशाल, व्यापक और अमर्यादित होनी चाहिए।

परमात्मा के यहां 'कितनी सेवा' यह पूछ नहीं है। 'कैसी सेवा' यह पूछ है। तिलक अत्यंत बुद्धिमान्, विद्वान् नाना शास्त्रों के पंडित थे, इसलिये उनकी सेवा अनेकांगी और बहुत बड़ी है। परन्तु तिलक ने जितनी कीमती सेवा की उतनी ही कीमती सेवा एक देहाती सेवक भी कर सकता है। तिलक की सेवा विपुल और बहु-अङ्गी थी तो भी उसका मूल्य और एक तुच्छ सेवक की सेवा का मूल्य बराबर हो सकता है। एक गाड़ीभर ज्वार रास्ते से जा रही हो लेकिन उसकी कीमत मैं अपनी छोटी-सी जेब में रख सकता हूं। दस हजार का नोट अपनी जेब में रख सकता हूँ। उस पर सरकारी मुहर भर लगी हो। आपकी सेवा पर व्यापकता की मुहर लगी होनी चाहिए। अगर कोई सेवा तो बहुत करे पर व्यापक-दृष्टि और वृत्ति से न करे तो उसकी कीमत व्यापक-दृष्टि से की हुई छोटी-सी सेवा की अपेक्षा कम ही मानी जायगी। व्यापक-वृत्ति से की हुई अल्प सेवा अनमोल हो जाती है, यह उसकी खूबी है। आप और मैं सब कोई सेवा कर सकें, इसीलिये परमात्मा की यह योजना है। चाहे जहां चाहे जो कुछ भी कीजिए, पर संकुचित दृष्टि से न कीजिये। उसमें व्यापकता भर दीजिए। यह व्यापकता आज के कार्यकर्त्ताओं में कम पाई जाती है। कुशल कार्यकर्त्ता आज संकुचित दृष्टि से काम करते हुए दीख पड़ते हैं।

तिलक की दृष्टि व्यापक थी, इसलिए उनके चारित्र्य में मिठास और आनन्द है। हिन्दुस्तान के ही नहीं, बल्कि संसार के किसी भी समाज के

वास्तविक हित का विरोध न करते हुए चाहे जहां सेवा कीजिए । चाहे वह एक गांव की ही सेवा क्यों न हो, वह अनमोल है । परन्तु यदि वुद्धि व्यापक हो तो अपनी दृष्टि व्यापक वनाइये । फिर देखिये आप के कर्मों में कैसी स्फूर्ति का संचार होता है । कैसी विजली का संचार होता है । तिलक में यही व्यापकता थी । 'मैं भारतीय हूँ' यह शुरू से यही उनकी वृत्ति रही । बंगाल में आंदोलन शुरू हुआ । उन्होंने दौड़कर उसकी मदद की । बंगाल का साथ देने के लिए महाराष्ट्र को खड़ा किया । स्वदेशी का डंका वजवाया । "जब बंगाल लड़ाई के मैदान में खड़ा है तो हमें भी जाना चाहिए । जो बंगाल का दु:ख है वह महाराष्ट्र का भी दु:ख है ।" ऐसी व्यापकता, सर्वराष्ट्रीयता तिलक में थी । इसीलिये पूने के निवासी होकर भी वे हिन्दुस्तान के प्राण वन गए । सारे देश के प्रिय वने, तिलक सारे भारतवर्ष के लिये पूजनीय हुए, इसका एक कारण यह था कि उनकी दृष्टि सर्वराष्ट्रीय थी, व्यापक थी ।

लेकिन इसका एक दूसरा भी कारण था । वह था जनता की विशेषता । जनता का यह गुण कार्यकर्त्ताओं में भी है, क्योंकि वे भी तो जनता के ही हैं । लेकिन उनको खुद इस वात का पता नहीं है । तिलक के गुण के साथ जनता के गुण का स्मरण भी करना चाहिए, क्योंकि तिलक अपने आपको जनता के चरणों की धूल समझते थे । जनता के दोष, जनता की दुर्वलता, जनता की त्रुटियां, सव-कुछ वे अपनी ही समझते थे । वे जनता से एक रूप हो गए थे, इसलिए जनता के गुणों का स्मरण तिलक के गुणों का स्मरण ही है ।

पंडित जवाहरलाल नेहरू

[देश और विदेश में समान रूप से विख्यात नव-भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहर लाल नेहरू के विषय में भारत के सुप्रसिद्ध धनीमानी दानवीर श्री घनश्यामदास बिड़ला ने संस्मरण के रूप में जो कुछ लिखा है उसे आगे की पंक्तियों में पढ़िए]

पंडित जी को दूर से तो मैं वैसे कई वर्षों से देखता आ रहा था, पर पहले पहल मेरी भेंट उनसे १६२५ में हुई। गांधीजी अपने अपेंडिक्स के आपरेशन के बाद जेल से छूट कर आये थे और स्वास्थ्य-लाभ के लिए जुहू ठहरे हुए थे। एक रोज मैं गांधी जी से मिलने जुहू गया तो बातों ही बातों में उन्होंने मुझसे पूछा, "क्या जवाहरलाल को जानते हो ?" "दूर से ही देखा है, कभी मिला नहीं हूँ।" मैंने कहा। "तो मिल लो और मैत्री करने का प्रयत्न करो।" मैं गांधी जी के पास से उठकर पंडित जी के पास गया। वह बरामदे के एक कोने में बैठे थे। वह दृश्य मुझे स्पष्ट याद है। उनके चेहरे पर ताज़गी थी, सौन्दर्य था और जवानी थी। मुझे ऐसा भी स्मरण है कि उनके हाथ में गीता की पुस्तक थी जिसका वह अध्ययन कर रहे थे। उस समय जो पहली छाप मुझपर पड़ी उससे मुझे लगा कि मैं उनके हृदय में कदाचित ही प्रवेश कर सकूँ। मेरी वह प्रथम धारणा आज भी मुझे सही ही लगती है।

मैं स्वनामधन्य पंडित मोतीलाल जी के पास काफी उठा बैठा हूँ। लाला लाजपतराय और पंडित मालवीय जी की भी मैंने सेवा की। बापू के चरणों में ३२ वर्ष तक रहा। पर पंडित जवाहरलाल जी इन सब से मुझे निराले दिखे हैं। मालवीय जी एक निर्मल जल के सरोवर जैसे लगते थे, जिसमें प्रवेश करने में मुझे कभी झिझक नहीं होती थी। बापू ऐसे लगते थे जैसे गंगा की पवित्र धारा। इसमें स्नान करने से सुख और शान्ति मिलती थी

ही शिक्षक होने के कारण उन्होंने श्रीमती आशादेवी को दस्तकारी के द्वारा बुनियादी तालीम की योजना का विकास करने में बहुत योग दिया है। श्री विनोवा ने कताई को बुनियादी दस्तकारी मान कर एक पुस्तक भी लिखी है। यह बिलकुल मौलिक चीज है। उन्होंने हंसी उड़ानेवालों को भी यह सिद्ध करके दिखा दिया है कि कताई एक ऐसी अच्छी दस्तकारी है कि जिसका उपयोग बुनियादी तालीम में बखूबी किया जा सकता है। तकली कातने में तो उन्होंने क्रांति ही ला दी है; और उसके अन्दर छिपी हुई तमाम शक्तियों को खोज निकाला है। हिन्दुस्तान में हाथ कताई में इतनी सम्पूर्णता किसी ने प्राप्त नहीं की जितनी कि उन्होंने की है।

उनके हृदय में छुआछूत की गंध तक नहीं है। साम्प्रदायिक एकता में उनका उतना ही विश्वास है जितना कि मेरा। इस्लाम धर्म की खूबियों को समझने के लिए उन्होंने एक वर्ष तक कुरान शरीफ का मूल अरबी में अध्ययन किया। इसके लिए उन्होंने अरबी भी सीखी। अपने पड़ोसी मुसलमान भाइयों से अपना सजीव संपर्क बनाये रखने के लिए उन्होंने इसे आवश्यक समझा।

उनके पास उनके शिष्यों और कार्यकर्त्ताओं का एक ऐसा दल है जो उनके इशारे पर हर तरह का बलिदान करने को तैयार है। एक युवक ने अपना जीवन कोढ़ियों की सेवा में लगा दिया है। उसे इस काम के लिए तैयार करने का श्रेय श्री विनोवा को ही है। औषधियों का कुछ भी ज्ञान न होने पर भी अपने कार्य में अटल श्रद्धा होने के कारण उसने कुष्ठ-रोग की चिकित्सा को पूरी तरह समझ लिया है। उसने उनकी सेवा के लिए कई चिकित्सा-घर खुलवा दिये हैं। उसके परिश्रम से सैकड़ों कोढ़ी अच्छे हो गये हैं। हाल ही में उसने कुष्ठ-रोगियों के इलाज के संबंध में एक पुस्तिका मराठी में लिखी है।

विनोवा कई वर्षों तक वर्धा के महिला-आश्रम के संचालक भी रहे हैं। दरिद्रनारायण की सेवा का प्रेम उन्हें वर्धा के पास के एक गांव में खींच ले

गया । अब तो वे वर्धा से पांच मील दूर पौनार नामक गांव में जा बसे हैं और वहां से उन्होंने अपने तैयार किये हुए शिष्यों के द्वारा गांववालों के साथ संपर्क स्थापित कर लिया है । वे मानते हैं कि हिन्दुस्तान के लिये "राजनैतिक स्वतन्त्रता" आवश्यक है । वे इतिहास के निष्पक्ष विद्वान् हैं । उनका विश्वास है कि गांववालों को रचनात्मक कार्यक्रम के वगैर सच्ची आज़ादी नहीं मिल सकती और रचनात्मक कार्यक्रम का केन्द्र है खादी । उनका विश्वास है कि चरखा अहिंसा का बहुत ही उपयुक्त बाह्य चिन्ह है । उनके जीवन का तो वह एक अंग ही बन गया है । उन्होंने पिछली सत्याग्रह की लड़ाइयों में सक्रिय भाग लिया था । वे राजनीति के मंच पर कभी लोगों के सामने आये ही नहीं । कई साथियों की तरह उनका यह विश्वास है कि सविनय आज्ञा भंग के अनुसंधान में शांत रचनात्मक काम कहीं ज्यादा प्रभावकारी होता है, इसकी अपेक्षा कि जहां आगे ही राजनैतिक भाषणों का अखण्ड प्रवाह चल रहा है वहां जाकर और भाषण दिये जावें । उनका पूर्ण विश्वास है कि चर्खे में हार्दिक श्रद्धा रखे विना और रचनात्मक कार्य में सक्रिय भाग लिये वगैर अहिंसक प्रतिकार संभव नहीं ।

श्री विनोबा युद्ध-मात्र के विरोधी हैं । परंतु वे अपनी अंतरात्मा की तरह दूसरों की अन्तरात्मा का भी उतना ही आदर करते हैं जो युद्धमात्र के विरोधी तो नहीं हैं, परंतु जिनकी अंतरात्मा युद्ध में शरीक होने की अनुमति नहीं देती ।

लोकमान्य के चरणों में

[आचार्य विनोबा भावे]

आज का नैमित्तिक धर्म लोकमान्य का पुण्य-स्मरण है। आज तिलक की पुण्य तिथि है।

१९२० में तिलक शरीर-रूप से हमारे अन्दर नहीं रहे। उस समय मैं बम्बई गया था। चार-पांच दिन पहले ही पहुँचा था, परन्तु डाक्टर ने कहा, 'अभी कोई डर नहीं है।' इसलिए मैं एक काम से साबरमती जाने को रवाना हुआ। मैं आधा रास्ता भी पार न कर पाया होऊंगा कि मुझे लोकमान्य की मृत्यु का समाचार मिला। मेरे अत्यन्त निकट के आत्मीय, सहयोगी और मित्र की मृत्यु का जो प्रभाव हो सकता है वही लोकमान्य के निधन का हुआ। मुझ पर बहुत गहरा असर हुआ। उस दिन से जीवन में कुछ नयापन-सा आ गया। मुझे ऐसा लगा मानो कोई बहुत ही प्रेम करनेवाला कुटुम्बी चल बसा हो इसमें जरा भी अत्युक्ति नहीं है। आज इतने बरस हो गए, आज फिर उनका स्मरण करना है। लोकमान्य के चरणों में अपनी यह तुच्छ श्रद्धांजलि अपनी गहरी श्रद्धा के कारण मैं चढ़ा रहा हूँ।

तिलक के विषय में जब मैं कुछ कहने लगता हूं तो मुँह से शब्द निकलना कठिन हो जाता है, गद्‌गद् हो उठता हूं। साधु-संतों का नाम लेते ही मेरी जो स्थिति होती है वही इस नाम से भी होती है। मैं अपने चित्त का भाव प्रकट ही नहीं कर सकता। उत्कट भावना को शब्दों में व्यक्त करना कठिन होता है। गीता का भी नाम लेते ही मेरी यही स्थिति हो जाती है, मानो स्फूर्ति का संचार हो जाता है। भावनाओं की प्रचण्ड बाढ़ आ जाती है। वृत्ति उमड़ने लगती है। परन्तु यह बड़प्पन मेरा नहीं है। बड़प्पन गीता का है। यही हाल तिलक के नाम का है। मैं तुलना नहीं करता। क्योंकि तुलना में सदा दोष आ जाते हैं। परन्तु जिनके नाम ही स्मरण में ऐसी स्फूर्ति

देने की शक्ति है उन्हीं में से तिलक भी हैं। मानो उनके स्मरण में ही शक्ति संचित है।

तिलक का पहला गुण कौन-सा था? तिलक जातितः ब्राह्मण थे। लेकिन जो ब्राह्मण नहीं हैं वे भी उनका स्मरण कर रहे हैं। तिलक महाराष्ट्र के मराठे थे। लेकिन पंजाब के पंजाबी और बंगाल के बंगाली भी उन्हें पूज्य मानते हैं। हिंदुस्तान तिलक का ब्राह्मणत्व और उनका मराठापन, सब-कुछ भूल गया है। यह चमत्कार है। इसमें रहस्य है—दोहरा रहस्य है। इस चमत्कार में तिलक का गुण तो है ही, हमारे पूर्वजों की कमाई का भी गुण है। जनता का एक गुण और तिलक का एक गुण—दोनों के प्रभाव से यह चमत्कार हुआ कि ब्राह्मण और महाराष्ट्रीय तिलक सारे भारत में सभी जातियों द्वारा पूजे जाते हैं। दोनों के गुण की ओर हमें ध्यान देना चाहिए।

तिलक का गुण यह था कि उन्होंने जो कुछ किया उसमें सारे भारतवर्ष का विचार किया। तिलक के फूल बंबई में गिरे, इसलिए वहां उनके स्मारक-मंदिर होंगे। उन्होंने मराठी में लिखा, इसलिए मराठी भाषा में उनके स्मारक होंगे। लेकिन तिलक ने जहां कहीं जो कुछ किया—चाहे जिस भाषा में क्यों न किया हो, वह भारतवर्ष के लिये किया। उन्हें यह अभिमान नहीं था कि मैं ब्राह्मण हूँ, मैं महाराष्ट्र का हूँ। उनमें पृथकता की, भेद की भावना नहीं थी। वह महाराष्ट्रीय थे तो भी उन्होंने सारे भारतवर्ष का विचार किया। जिन अर्वाचीन महाराष्ट्रीय विभूतियों ने सारे भारतवर्ष का विचार किया, तिलक उनमें से एक थे। और दूसरे जो मेरी दृष्टि के सामने आते हैं वह थे महर्षि न्यायमूर्ति रानाडे। तिलक ने महाराष्ट्र को अपनी जेब में रखा और सारे हिंदुस्तान के लिये लड़ते रहे। "हिंदुस्तान के हित में मेरे महाराष्ट्र का भी हित है, इसीलिए पूने का हित है और पूने में रहनेवाले मेरे परिवार का हित है और परिवार में रहनेवाले मेरा भी हित है। हिंदुस्तान के हित का विचार करने से उसी में महाराष्ट्र, पूना, मेरा परिवार और मैं, सबके

हित का विचार आ जाता है।" यह तत्त्व उन्होंने जान लिया था, और उसी के अनुसार उन्होंने काम किया। ऐसी विशाल उनकी व्याख्या थी। जो सच्ची सेवा करना चाहता है उसे वह सेवा किसी मर्यादित स्थान में करनी पड़ेगी। लेकिन उस मर्यादित स्थान में रहकर जीनेवाली सेवा के पीछे जो वृत्ति रहेगी वह विशाल, व्यापक और अमर्यादित होनी चाहिए।

परमात्मा के यहां 'कितनी सेवा' यह पूछ नहीं है। 'कैसी सेवा' यह पूछ है। तिलक अत्यंत बुद्धिमान्, विद्वान् नाना शास्त्रों के पंडित थे, इसलिये उनकी सेवा अनेकांगी और बहुत बड़ी है। परन्तु तिलक ने जितनी कीमती सेवा की उतनी ही कीमती सेवा एक देहाती सेवक भी कर सकता है। तिलक की सेवा विपुल और बहु-अङ्गी थी तो भी उसका मूल्य और एक तुच्छ सेवक की सेवा का मूल्य बराबर हो सकता है। एक गाड़ीभर ज्वार रास्ते से जा रही हो लेकिन उसकी कीमत मैं अपनी छोटी-सी जेब में रख सकता हूं। दस हजार का नोट अपनी जेब में रख सकता हूँ। उस पर सरकारी मुहर भर लगी हो। आपकी सेवा पर व्यापकता की मुहर लगी होनी चाहिए। अगर कोई सेवा तो बहुत करे पर व्यापक-दृष्टि और वृत्ति से न करे तो उसकी कीमत व्यापक-दृष्टि से की हुई छोटी-सी सेवा की अपेक्षा कम ही मानी जायगी। व्यापक-वृत्ति से की हुई अल्प सेवा अनमोल हो जाती है, यह उसकी खूबी है। आप और मैं सब कोई सेवा कर सकें, इसीलिये परमात्मा की यह योजना है। चाहे जहां चाहे जो कुछ भी कीजिए, पर संकुचित दृष्टि से न कीजिये। उसमें व्यापकता भर दीजिए। यह व्यापकता आज के कार्यकर्त्ताओं में कम पाई जाती है। कुशल कार्यकर्त्ता आज संकुचित दृष्टि से काम करते हुए दीख पड़ते हैं।

तिलक की दृष्टि व्यापक थी, इसलिए उनके चारित्र्य में मिठास और आनन्द है। हिन्दुस्तान के ही नहीं, बल्कि संसार के किसी भी समाज के

वास्तविक हित का विरोध न करते हुए चाहे जहां सेवा कीजिए । चाहे वह एक गांव की ही सेवा क्यों न हो, वह अनमोल है । परन्तु यदि बुद्धि व्यापक हो तो अपनी दृष्टि व्यापक बनाइये । फिर देखिये आप के कर्मों में कैसी स्फूर्ति का संचार होता है । कैसी बिजली का संचार होता है । तिलक में यही व्यापकता थी । 'मैं भारतीय हूँ' यह शुरू से यही उनकी वृत्ति रही । बंगाल में आंदोलन शुरू हुआ । उन्होंने दौड़कर उसकी मदद की । बंगाल का साथ देने के लिए महाराष्ट्र को खड़ा किया । स्वदेशी का डंका बजवाया । "जब बंगाल लड़ाई के मैदान में खड़ा है तो हमें भी जाना चाहिए । जो बंगाल का दु:ख है वह महाराष्ट्र का भी दु:ख है ।" ऐसी व्यापकता, सर्वराष्ट्रीयता तिलक में थी । इसीलिये पूने के निवासी होकर भी वे हिन्दुस्तान के प्राण बन गए । सारे देश के प्रिय बने, तिलक सारे भारतवर्ष के लिये पूजनीय हुए, इसका एक कारण यह था कि उनकी दृष्टि सर्वराष्ट्रीय थी, व्यापक थी ।

लेकिन इसका एक दूसरा भी कारण था । वह था जनता की विशेषता । जनता का यह गुण कार्यकर्त्ताओं में भी है, क्योंकि वे भी तो जनता के ही हैं । लेकिन उनको खुद इस बात का पता नहीं है । तिलक के गुण के साथ जनता के गुण का स्मरण भी करना चाहिए, क्योंकि तिलक अपने आपको जनता के चरणों की धूल समझते थे । जनता के दोष, जनता की दुर्बलता, जनता की त्रुटियां, सब-कुछ, वे अपनी ही समझते थे । वे जनता से एक रूप हो गए थे, इसलिए जनता के गुणों का स्मरण तिलक के गुणों का स्मरण ही है ।

पंडित जवाहरलाल नेहरू

[देश और विदेश में समान रूप से विख्यात नव-भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहर लाल नेहरू के विषय में भारत के सुप्रसिद्ध धर्माभिमानी दानवीर श्री घनश्यामदास बिड़ला ने संस्मरण के रूप में जो कुछ लिखा है उसे आगे की पंक्तियों में पढ़िए]

पंडित जी को दूर से तो मैं वैसे कई वर्षों से देखता आ रहा था, पर पहले पहल मेरी भेंट उनसे १९२५ में हुई। गांधीजी अपने अपेंडिक्स के आपरेशन के बाद जेल से छूट कर आये थे और स्वास्थ्य-लाभ के लिए जुहू ठहरे हुए थे। एक रोज मैं गांधी जी से मिलने जुहू गया तो बातों ही बातों में उन्होंने मुझसे पूछा, "क्या जवाहरलाल को जानते हो ?" "दूर से ही देखा है, कभी मिला नहीं हूँ।" मैंने कहा। "तो मिल लो और मैत्री करने का प्रयत्न करो।" मैं गांधी जी के पास से उठकर पंडित जी के पास गया। वह सभामंडप के एक कोने में बैठे थे। वह दृश्य मुझे स्पष्ट याद है। उनके चेहरे पर ताजगी थी, सौन्दर्य था और जवानी थी। मुझे ऐसा भी स्मरण है कि उनके हाथ में गीता की पुस्तक थी जिसका वह अध्ययन कर रहे थे। उस समय जो पहली छाप मुझपर पड़ी उससे मुझे लगा कि मैं उनके हृदय में कदाचित ही प्रवेश कर सकूं। मेरी वह प्रथम धारणा आज भी मुझे सही ही लगती है।

मैं स्वनामधन्य पंडित मोतीलाल जी के पास काफी उठा बैठा हूं। लाला लाजपतराय और पंडित मालवीय जी की भी मैंने सेवा की। बापू के चरणों में ३२ वर्ष तक रहा। पर पंडित जवाहरलाल जी इन सब से मुझे निराले दिखे हैं। मालवीय जी एक निर्मल जल के सरोवर जैसे लगते थे, जिसमें प्रवेश करने में मुझे कभी झिझक नहीं होती थी। बापू ऐसे लगते थे जैसे गंगा की पवित्र धारा। इसमें स्नान करने से सुख और शान्ति मिलती थी

और पाप परिताप से मुक्ति मिलती थी । इन दोनों ही जलों में गोता लगाना मुझे आसान मालूम देता था । पर पंडित जी मेरी दृष्टि में सदा एक अगाध समुद्र रहे हैं जो विशाल है, वृहत् है, अपनी ओर खींचता है, अपने लिए श्रद्धा पैदा करता है, और प्रभावान्वित भी करता है, पर जिसका अवगाहन भयप्रद है ।

सन् १९२४ के पश्चात् मैं पंडित जी के काफी परिचय में आया । उनका काफी अध्ययन किया । उनके साहित्य को पढ़ा । पर मैं नहीं कह सकता कि मैं आज भी उन्हें जान पाया हूँ । पंडित जी मेरे लिए सदा ही समुद्र की तरह 'अनवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा' रहे हैं ।

एक वार मैंने स्वर्गीय भाई महादेव देसाई से पूछा था, "महादेव भाई, जवाहरलालजी को जानते हो ? जानते हो तो वताओ वे क्या हैं ।" उन्होंने कहा, "जवाहर ग्रीक फ़िलासफ़र है । वह सौन्दर्य का उपासक है । वह कभी सौन्दर्यहीन काम नहीं कर सकता ।"

गोल्डस्मिथ ने कहा है, "सुन्दर वह है जो सुन्दर करता है ।" सम्भव है, महादेव भाई का तात्पर्य सत्यं शिवंसुन्दरम् से रहा हो । जो सुन्दर है वह सत्य भी होना चाहिए, कल्याणकारी भी होना चाहिए ।

मैंने समालोचक वनकर पंडित जी का अध्ययन किया है और मुझे लगता है कि पंडित जी के सम्बन्ध में महादेव भाई का चित्रण अक्षरशः सही है । पंडित जी चाहे एक क्षण के लिए आवेश में आ जायँ पर उनकी न्याय-वुद्धि उन्हें कभी नहीं छोड़ती । एक विशिष्ट पुरुष ने मुझसे एक वार कहा था, "जवाहरलाल क्रांतिकारी नहीं, एक उच्च कोटि का लिवरल है, जो हर चीज़ के दोनों पहलुओं को दृष्टिगत रख कर निर्णय करता है और कभी-कभी दोनों पहलुओं को इतना तौलता और मापता है कि स्पष्ट निर्णय में भी कठिनाई पाता है ।" इन सव वर्णनों के वाद मुझे आश्चर्य नहीं हुआ जव गांधी जी ने

अपनी मृत्यु के कुछ ही दिन पहले मुझसे एक बार कहा "जवाहर विचारक है, सरदार कारक है ।"

पंडित जी के भीतर जो मंथन और संघर्ष चलता रहता है, उसकी छाप हर बारीकी से अध्ययन करनेवाले पर पड़े बिना नहीं रहती । हर चीज के स्पष्ट निर्णय में जो एक विचारक को कठिनाई पड़ती है, उसका आभास उसकी भावभंगी से मिलता है । पंडित जी हँसते हैं तो भी उनके चेहरे पर से एक तरह की उदासी कभी नहीं हटती । दिलीप के बारे में कालिदास ने कहा है कि उसमें 'वृद्धत्वं जरसा विना' था । पंडित जी में 'वृद्धत्वं जरसा विना' और 'विना बाल्येन चापल्यं' दोनों हैं । नम्रता है तो आवेग भी है । उत्साह है तो थकान भी है । दिल गरीब है तो तबीयत रईसाना भी है । हठ है पर समन्वय हैं । बहादुर हैं तो लोकमतके सामने झुकते हैं । कुशाग्रबुद्धि हैं पर उनमें सीधापन भी है । यह सब द्वन्द्व इस तरह से भीतर संग्राम करते हैं कि इनका प्रतिबिम्ब पंडित जी के चेहरे पर आ ही जाता है ।

साधारण मान्यता है कि पंडित जी को धर्म में कोई श्रद्धा नहीं है, न उन्हें ईश्वर मान्य हैं । कभी-कभी पंडित जी के सार्वजनिक उद्गारों से इस कथन का समर्थन भी होता है । पर इसमें भी मतभेद की काफी गुंजाइश रहती है । धर्म क्या है और ईश्वर क्या है, इसकी सम्पूर्ण व्याख्या के बाद ही यह निर्णय हो सकता है कि पंडित जी के ईश्वर सम्बन्धी मन्तव्य क्या हैं । पर गांधी जी इस कथन का भी विरोध करते थे । बहस में एक बार उन्होंने मुझसे कहा, "जवाहर नास्तिक नहीं है । जो मनुष्य कहता है, आजादी अवश्य मिलेगी उसके इस कथन का आधार विज्ञान नहीं, श्रद्धा है । और श्रद्धा आस्तिकता का प्रदर्शन है, नास्तिकता का नहीं ।" यह सही है । कुछ दिन पहले इलाहाबाद साइंस कांग्रेस में व्याख्यान देते समय पंडित जी ने कहा "मैं पन्त जी से सहमत नहीं हूँ जब वह कहते हैं कि प्रकृति का नियम अस्थायी है । वास्तव में तो प्रकृति का नियम अटल और अजेय है । मनुष्य उसे समझने में और उस

पर विजय पाने में अब तक निष्फल रहा है। जो कुछ हुआ है वह इतना ही है कि मनुष्य प्रकृति से सहयोग करके उसका उपयोग करता रहा है।" यह नास्तिकता नहीं, परले सिरे की आस्तिकता है।

साधन और साध्य में सामंजस्य को गांधी जी ने अपने प्रवचनों में काफी महत्व दिया है। अच्छे ध्येय के लिए भी बुरे साधनों का उपयोग त्याज्य है, इस पर गांधी जी ने जितना भार दिया है उतना हमारे प्राचीन लोगों ने शायद ही दिया हो।

राजनीतिक दांव-पेंच हर युग में चलते रहे और हमारे पूर्वज भी इन दांव पेंचों से वंचित न थे। देव-दानवों के संघर्ष में देवों की गिरती आयी तो वामन ने बलि को धोखा दिया। इसके पहले भी विष्णु ने मोहिनी बनकर दैत्यों से अमृत चुराया। राम ने छिप कर वालि को मारा। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। भारत की भविष्य की परराष्ट्रनीति इन दांव-पेंचों का तिरस्कार करेगी, ऐसा मानने की भी कोई गुंजाइश नहीं। पर गांधी जी इस पैंतरेबाजी से परे थे और उस नीति का जवाहरलाल जी पर भी प्रभाव पड़ा है, ऐसा उनके अनेक उद्‌गारों से पता चलता है। गांधी जी का यह सुवर्ण नियम स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद कभी कसौटी पर नहीं चढ़ा। जवाहरलाल जी यदि इसको व्यावहारिक रूप में सफल कर दिखायेंगे तो अवश्य ही हमारी एक अद्‌भुत विजय होगी।

जवाहरलाल जी एक महान् व्यक्ति हैं। उनमें महत्ता क्या है, इसका विश्लेषण कष्टसाध्य है। सोना या हीरा केवल अपने बुनियादी तत्त्वों के कारण ही कीमती नहीं होता। कहते हैं कि जो तत्त्व हीरे में है वह कोयले में भी है। पर कोयला कोयला ही है और हीरा हीरा ही। पंडित जी में अभय है, न्यायबुद्धि है, कुशाग्रता है। पर उन्हें किस चीज़ ने बड़ा बनाया, यह बताना असम्भव है। बात यह है कि वह बड़े हैं और इस देश को उनकी सेवा की अत्यन्त आवश्यकता है।

वह पैंसठ साल के हो चले, यह घटना किसी को आह्लादित नहीं कर सकती। पर घड़ी की सूई पीछे नहीं घूम सकती। इस तरह हमारे चाहने पर भी पचास के हो जाने की बात ही क्या, जवाहरलाल जी साठ में से एक क्षण भी पीछे नहीं जा सकते। इसलिये हम उतने ही से संतोष करें कि ईश्वर उन्हें लम्बी आयु दे।

मेरा बचपन

[यह अवतरण 'मेरी कहानी' नाम की आत्मकथा से लिया गया है। इसमें नेहरू जी ने अपने परिवार और बाल-जीवन का बड़ा सुन्दर चित्र उपस्थित किया है।]

मेरा बचपन बड़ों की छत्रछाया में बीता। उसमें कोई महत्त्व की घटना नहीं हुई। मैं अपने चचेरे भाइयों की बातें सुनता, मगर हमेशा सब की सब मेरी समझ में आ जाती हों सो बात नहीं। अक्सर ये बातें अंग्रेज और यूरेशियन लोगों के ऐंठू स्वभाव और हिन्दुस्तानियों के साथ अपमान-जनक व्यवहारों के बारे में हुआ करतीं और इस बात पर भी चर्चा हुआ करती कि प्रत्येक हिन्दुस्तानी का फ़र्ज होना चाहिये कि वह इस हालत का मुकाबिला करे और इसे हरगिज बरदाश्त न करे। हाकिमों और लोगों में टक्करें होती रहती थीं और उनके समाचार आये दिन मुझे सुनाई पड़ते थे। उन पर खूब बहस भी होती थी। हालांकि देश में विदेशी शासकों का रहना और उनका रंग-ढंग मुझे नागवार मालूम होने लगा था, तो भी, मुझे जहां तक याद है, किसी अंग्रेज के लिये मेरे दिल में बुरा भाव नहीं था। मेरी अध्यापिकाएँ अंग्रेज थीं और कभी-कभी मैं देखता था कि कुछ अंग्रेज भी पिताजी से मिलने के लिए आया करते थे। बल्कि यों कहना चाहिए कि अपने दिल में यों तो मैं अंग्रेज़ की इज्जत ही करता था।

शाम को रोज़ कई मित्र पिता जी से मिलने आया करते थे। पिता जी आराम से पड़ जाते और दिन भर की थकान मिटाते। उनकी ज़बरदस्त हँसी से सारा घर भर जाता। इलाहाबाद में उनकी हँसी एक मशहूर बात हो गई थी। कभी-कभी मैं परदे की ओट से उनकी और उनके दोस्तों की ओर झांकता रहता और जानने की कोशिश करता कि देखें ये बड़े लोग इकट्ठे होकर आपस में क्या-क्या बातें करते हैं। मगर जब कभी ऐसा करते हुए मैं पकड़ा जाता तो मैं खींच कर बाहर लाया जाता और मैं, सहमा हुआ, कुछ देर तक पिता जी की गोदी में बैठाया जाता।

उनकी तेज़-मिज़ाज़ी की एक घटना मुझे याद है। बचपन ही में मैं उसका शिकार हो गया था। कोई ५-६ वर्ष की मेरी उम्र रही होगी। एक रोज़ मैंने पिता जी की मेज़ पर दो फाउन्टेन पेन पड़े देखे। मेरा ज़ी ललचाया मैंने अपने दिल में कहा—पिता जी एक साथ दो पेनों को क्या करेंगे? एक मैंने अपनी जेब में डाल ली। बाद में बड़े ज़ोरों से तलाश हुई, कि पेन कहां चला गया? तब तो मैं घबराया। मगर मैंने बताया नहीं। आखिर पेन मिल गया और मैं गुनाहगार क़रार दिया गया। पिता जी बहुत गुस्सा हुए और मेरी खूब जी भर कर मरम्मत की। आखिर पिट कर शर्म से अपना-सा मुँह लिए मैं मां की गोद में दौड़ा गया। इतना पिटा था कि कई दिन तक मेरे बदन में क्रीम और मरहम लगाने पड़े।

लेकिन मुझे याद नहीं पड़ता कि इसके कारण पिता जी के प्रति मेरे मन में कोई बुरा भाव पैदा हुआ हो। मैं समझता हूँ, मेरे दिल ने यही कहा होगा, कि सज़ा तो मुझे वाजिब मिली मगर थी ज़रूरत से ज्यादा। लेकिन मेरे दिल में वैसी ही इज्जत और मुहब्बत बनी रही—हां, अब एक डर उसमें और शामिल हो गया था। मगर मां के साथ ऐसा नहीं था। उससे मैं बिलकुल नहीं डरता था, क्योंकि मैं जानता था कि वह मेरे सब कुछ किये

घरे को माफ कर देगी और उसके इस ज्यादा और वेहद प्रेम के कारण मैं उस पर थोड़ा-वहुत हावी होने की भी कोशिश करता था ।

एक और शख्स जो लड़कपन में मेरे भरोसे के आदमी थे, वह पिता जी के मुंशी मुवारिक अली थे । वह वदाऊं के रहनेवाले थे और उनके घर के लोग खुशहाल थे । मगर १८५७ के गदर ने उनके कुनवे को वरवाद कर दिया और अंग्रेजी फ़ौज ने उसको एक हद तक जड़-मूल से उखाड़ फेंका था । इस मुसीवत ने उन्हें हरएक के प्रति और खास कर वच्चों के प्रति, वहुत नम्र और सहन-शील वना दिया था, और मेरे लिए तो वह जव कभी मैं किसी वात से दुखी होता या तकलीफ़ महसूस करता तो सान्त्वना के निश्चित आधार थे । उनके वढ़िया सफ़ेद दाढ़ी थी और मेरी नौजवान आंखों को वह पुराने और जानकारी के खज़ाने मालूम होते थे । मैं उनके पास लेटे-लेटे घण्टों अलिफ़-लैला के और दूसरे क़िस्से-कहानियां या १८५७ और १८५८ की वातें सुना करता । वहुत दिन वाद, मेरे वड़े होने पर, मुंशी जी इन्तकाल कर गये । उनकी प्यारी सुखद स्मृति अव भी मेरे मन में वसी हुई है ।

हिन्दू पुराणों और रामायण-महाभारत की कथाएं भी सुना करता था जो कि मेरी मां और ताइयां सुनाया करती थीं । मेरी एक ताई, पंडित नन्द-लाल जी की विधवा पत्नी, पुराने हिन्दू ग्रन्थों की वहुत जानकारी रखती थीं । उनके पास इन कहानियों का तो मानों खज़ाना ही भरा था ।

कभी-कभी मैं अपनी मां या ताई के साथ गंगा नहाने जाया करता, और कभी इलाहावाद या काशी या दूसरी जगह मन्दिरों में भी या किसी नामी और वड़े साधु-सन्यासी के दर्शन के लिए भी जाया करता । फिर त्योहार के दिन आते थे—होली जवकि सारे शहर में रंगरेलियों की धूम मच जाती थी और हम लोग एक दूसरे पर रंग की पिचकारियां चलाते थे; दीवाली रोशनी का त्योहार होता, जव कि सव घरों पर धीमी रोशनी वाले मिट्टी के हज़ारों दीये जलाये जाते; जन्माष्टमी,

जिसमें कि जेल में पैदा हुए श्रीकृष्ण की आधी रात को वर्ष गांठ मनाई जाती (लेकिन उस समय तक जागते रहना हमारे लिए बड़ा मुश्किल होता था); दशहरा और रामलीला, जिसमें कि स्वांग और जुलूसों के द्वारा रामचन्द्र और लंका-विजय की पुरानी कहानी की नक़ल की जाती थी और जिन्हें देखने के लिये लोगों की बड़ी भारी भीड़ इकट्ठी होती थी। सब बच्चे मुहर्रम का जुलूस भी देखने जाते थे जिसमें रेशमी अलम होते थे और सुदूर अरब में हसन और हुसैन के साथ घटित घटनाओं की यादगार में शोकपूर्ण मरसिए गाये जाते थे।

मगर इन तमाम उत्सवों में मुझे एक सालाना जलसे में सबसे ज्यादा दिलचस्पी य रहती थी, जिसका ख़ास मुझी से ताल्लुक़ था—यानी मेरी वर्ष-गांठ का उत्सव। इस दिन मैं बड़े ही उत्साह और रंग में रहता सुबह ही एक एक बड़ी तराजू में मैं गेहूँ और दूसरी चीज़ों के थैलों से तौला जाता और फिर फिर वे चीज़ें ग़रीबों को बांट दी जातीं और बाद को नए-नए कपड़ों से सजा-धजा कर मुझे भेंट और तुहफ़े नज़र किये जाते। फिर तीसरे पहर दावत दी जाती। उस समय मैं अपने को को मानों उस सारे जलसे का सरदार ही पाता था। मगर मुझे इस बात का बड़ा दुःख था कि वर्ष-गांठ साल में एक बार ही क्यों आती है?

कभी-कभी हम सब घर के लोग अपने किसी भाई या किसी रिश्तेदार या किसी दोस्त की शादी में बारात में जाया करते। उस सफ़र में बड़ी धूम रहती। शादी के उत्सव में हम बच्चों की तमाम पाबन्दियां ढीली हो जाती थीं और हम आज़ादी से आ जा सकते थे। शादीखाने में कुटुम्बों के लोग आकर रहते थे और उनमें बहुतेरे लड़के और लड़कियां भी होती थीं। ऐसे मौक़ों पर मुझे अकेलेपन की शिकायत नहीं रहती थी और जी भरकर खेल-कूदने और शरारत करने का मौक़ा मिल जाता था। हां, कभी-कभी बड़े-बूढ़ों की डांट फटकार भी ज़रूर पड़ जाती थी।

देशरत्न डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद

[राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू के त्याग और तपस्यामय जीवन के सम्बन्ध में देश और विदेश के अनेक विद्वान् प्रायः नित्य ही कुछ न कुछ अपूर्व ढंग से लिखा करते हैं। अग्रिम लेख प्रयाग के प्रसिद्ध पत्रकार पुरुषोत्तमदास टण्डन ने कुछ संस्मरणात्मक शैली में लिखा है। इसमें राजेन्द्र बाबू की व्यक्तिगत विशेषताओं का तथा उनके सम्बन्ध में व्यक्त किये गये देश के महान् नेताओं के उद्‌गारों का बड़े सुन्दर ढंग से समावेश किया गया है। पढ़िए।]

१६३५ का वर्ष था। इलाहाबाद क्रिश्चियन कालेज में अपना कृश शरीर साधारण वस्त्रों से आच्छादित किये एक दीर्घकाय व्यक्ति छात्रों को ईमानदारी और रचनात्मक कार्य का महत्त्व समझा रहा था। उसके कृषक जैसे मुख-मण्डल पर दो विशाल नेत्र चमक रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था मानो वे नेत्र हमारे हृदयों के भीतर झांक रहे हों। उसकी गंभीर भाषण-शैली सभी के हृदयों में यह विश्वास उत्पन्न कर रही थी कि वह जो कुछ कहता है उसे अपने जीवन में कार्यान्वित भी करता है। यह कोई साधारण व्यक्ति नहीं वरन् देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद थे। इस महान् एकनिष्ठ गांधीवादी के लिए भारत के प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में अपार श्रद्धा और सम्मान है। वे अत्यन्त विनम्र हैं और कभी-कभी तो उनकी यह विनम्रता लोगों को उलझन में डाल देती है। प्रायः लोग यह भी कहते देखे जाते हैं कि यह ढीले व्यक्ति हैं और सरलतापूर्वक दूसरों से प्रभावित हो जाते हैं। यह सत्य है कि झगड़ा करना उनके वश का नहीं और वे दूसरों पर अपनी सम्मति लादना भी नहीं चाहते; परन्तु ये कहना कि वे किसी बात को बिना सोचे-समझे मान लेते हैं, असत्य है। हाल ही में उनके एक मित्र ने कहा था कि राजेन्द्र बाबू शक्ति नहीं लगाते और जो कुछ नेहरू जी अथवा सरदार

पटेल कहते अथवा करते हैं उसको स्वीकार कर लेते हैं। सम्भवतः किसी सीमा तक यह कथन सत्य है। परन्तु इसमें सभी अधिकांशतः एकमत होंगे कि यदि कभी किन्हीं बातों पर उनका मतभेद होते हुए भी उनको मान लेते हैं तो वे ऐसा अनुशासन सुदृढ़ रखने के उद्देश्य से करते हैं। परन्तु राष्ट्र इस महान् गांधीवादी से यह आशा रखता है कि वह गांधीजी की उच्च परम्पराओं को स्थिर रखे और किसी व्यक्ति से चाहे वह छोटा हो चाहे बड़ा मौलिक मत-भेद होने पर विना किसी झिझक के स्पष्ट शब्दों में उसे व्यक्त करे और बल-पूर्वक मनवाने का प्रयत्न करे।

डा० राजेन्द्रप्रसाद केवल एक राजनीतिज्ञ ही नहीं वरन् एक प्रकाण्ड विद्वान् भी हैं। बाल्यावस्था से ही उनकी साहित्य तथा अन्य विषयों के प्रति प्रगाढ़ रुचि रही है और उन पर उनका पूर्ण अधिकार है। वे कई भाषाएँ जानते हैं और सरलतापूर्वक उनमें लिख-बोल सकते हैं। हिन्दी में उनकी आत्मकथा हिन्दी साहित्य को उनकी एक अपूर्व देन है। आत्मकथा पढ़ते समय उनके साहित्यिक व्यक्तित्व की गुरुता की झलक मिलती है। उनकी भाषा सरल और सुस्पष्ट है तथा विचारों की अभिव्यक्ति में ईमानदारी है। सरदार पटेल ने इस पुस्तक के विषय में लिखा था कि "उनकी आत्मकथा के प्रत्येक पृष्ठ पर राजेन्द्र बाबू की सरलता और विनम्रता की स्पष्ट छाप है। उनकी आत्मकथा भारतीय जन-आन्दोलन के गत ३० वर्षों का इतिहास है।"

डा० राजेन्द्रप्रसाद स्वभावतः झेंपू हैं और उन्हें किसी पर क्रोध नहीं आ सकता। उन्होंने अपनी आत्मकथा में स्वयं लिखा है कि "मैं बचपन ही से दब्बू रहा हूँ और किसी बड़े मामले में मैं तुरन्त कोई फ़ैसला नहीं कर पाता।" जब गोखले ने राजेन्द्रप्रसाद को भारत-सेवक मण्डल (सर्वेंट्स आव इण्डिया सोसाइटी) में सम्मिलित होने के लिए लिखा तो वे इसके लिए तुरन्त उद्यत हो गये परन्तु बड़े भाई की सम्मति की उपेक्षा करने की न तो उनकी इच्छा थी और न साहस ही था। तथापि उन्होंने अपने भाई को एक अत्यंत विनम्रता-

ें पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने 'भारत सेवक मण्डल' में सम्मिलित होने की ुमति देने की प्रार्थना की, जिससे उन्हें देश-सेवा का पूरा अवसर मिल सके। स पत्र से उनके महान् व्यक्तित्व का पता चलता है। उन्होंने लिखा—"भाई हव, भावुक होने के कारण आपके सामने बात करने की मेरी हिम्मत हीं। आपको कठिनाई और परेशानी में डालकर चला जाना कृतघ्नता ोगी, परन्तु ३० करोड़ जनता के लिए मैं कुछ त्याग करना चाहता हूँ। श्री ोखले की संस्था में सम्मिलित होकर व्यक्तिगत रूप से मुझे कोई त्याग नहीं रना पड़ेगा। मुझको ऐसी शिक्षा मिली है कि मैं जिस भी परिस्थिति में हूँ अपने को उसी के अनुकूल बना सकता हूँ। मेरा रहन-सहन भी सरल है ौर इसीलिए मुझे किसी विशेष सुविधा की आवश्यकता नहीं। जो कुछ ी मुझे संस्था से मिलेगा वही मेरे लिए पर्याप्त होगा। परन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि आपको त्याग नहीं करना पड़ेगा। आपको बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं और एक क्षण में उन पर पानी फिर जायगा। परन्तु इस क्षणभंगुर संसार में धन, पद और सम्मान सभी नष्ट हो जाते हैं। जितना ही धन बढ़ता है, उतनी ही आवश्यकता बढ़ती जाती है। यद्यपि लोग कह सकते हैं कि उनको धन से सन्तोष मिलता है, तथापि जिन्हें थोड़ा बहुत भी ज्ञान है, वह जानते हैं कि संतोष हृदय की वस्तु है, बाहर से नहीं प्राप्त होती। करोड़पति की अपेक्षा एक गरीब आदमी अपने थोड़े पैसे से अधिक सन्तुष्ट रहता है। ऐसी स्थिति में हमें गरीबों से घृणा नहीं करनी चाहिए। विश्व के महान् व्यक्ति सबने गरीब रहे हैं। यद्यपि आरम्भ में लोगों ने उन्हें यातनाएँ दीं और उनको घृणा की दृष्टि से देखा। परन्तु हँसी उड़ानेवाले और यातना देनेवाले धूल में मिल गये, उनका कोई अस्तित्व नहीं, उनकी कोई बात भी नहीं करता; परन्तु जिन लोगोंने यातनाएँ भोगीं और घृणा के पात्र बने वे करोड़ों लोगों के मन और ध्यान में बसते हैं। यदि जीवन की मेरी कुछ भी आकांक्षा है तो यह है

कि मैं देश की सेवा में लगूँ। मुझ में मातृभूमि की सेवा के अतिरिक्त कोई भी महत्वाकांक्षा नहीं है। कौन राजा अथवा साधारण व्यक्ति है जो गोखले सा प्रभावशाली है अथवा उसको उनका-सा- ऊँचा दर्जा और सम्मान मिला है ? फिर भी क्या वे गरीब व्यक्ति नहीं हैं ?" यह पत्र इस बात का प्रमाण है कि बाल्यावस्था से ही डा० राजेन्द्रप्रसाद में अपनी मातृभूमि की सेवा करने की उत्कट अभिलाषा थी और उन्होंने इसे सत्य करके दिखा दिया है। आपके भाई इस प्रार्थना को स्वीकार करने में असमर्थ रहे और एक छोटे भाई की भांति आपने अपने बड़े भाई के आदेश को शिरोधार्य किया और उक्त संस्था में सम्मिलित होने के लिए पूना नहीं गये।

डा० राजेन्द्रप्रसाद का जन्म ३ दिसम्बर १८८५ को हुआ था। आपके पिता का नाम मुँशी महादेव प्रसाद था, वे एक जमींदार थे। राजेन्द्र बाबू अपने माता-पिता के पांचवें और सबसे छोटे लड़के थे। आप बहुत ऊँचे कायस्थ वंश में उत्पन्न हैं। उन दिनों उनके गांव में यह प्रसिद्ध था कि जो मदिरा-पान करेगा वह कोढ़ी हो जायगा। राजेन्द्र बाबू ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि उनके परिवार के किसी सदस्य ने कभी मद्यपान नहीं किया और अब तक इस परम्परा का निर्वाह किया जा रहा है। आप १८९३ में छपरा के स्कूल में भरती किये गये और १९०२ में कलकत्ता विश्वविद्यालय की एन्ट्रेन्स परीक्षा में सर्वप्रथम रहे। आप सर्वप्रथम बिहारी छात्र थे जिन्हें यह विशिष्ट सफलता मिली। बिहार की तत्कालीन प्रमुख मासिक पत्रिका "इण्डियन रिव्यू" ने राजेन्द्र बाबू की प्रतिभा से प्रभावित होकर लिखा— "तरुण राजेन्द्र हर प्रकार से एक प्रतिभाशाली छात्र है। आशा है कि वह विश्वविद्यालय में अपनी पूर्ण सफलता के स्तर को स्थिर रख सकेगा। और एक दिन आवेगा जब वह प्रांत के हाईकोर्ट में उचित पद प्राप्त करेगा।" यह आशा अवश्य पूर्ण होती यदि राजेन्द्र बाबू गांधीजी के प्रभाव में आकर

राजनीतिक आंदोलन में न कूदते। वकालत से उनकी आय बहुत अच्छी थी और सारे वकीलों के हृदय में उनके प्रति बहुत अधिक सम्मान था। उन्होंने अपने निर्मल चरित्र और ईमानदारी से सभी को प्रभावित कर रखा था। उन्होंने बहुत धन कमाया परन्तु आय का अधिकांश वे गरीबों, दुखियों और लोकहित के कार्यों को आर्थिक सहायता देने में व्यय कर देते थे। जब वकालत छोड़कर वे असहयोग आन्दोलन में सम्मिलित हुए तब उनके पास बैंक में केवल १५ रु०शेष रह गये थे। सन् १९०६ में आपने बी०-ए० पास करके एम०ए० में अंग्रेजी ली और प्रत्येक परीक्षा में सर्वप्रथम रहे। वकालत आरम्भ करने के पूर्व वे मुजफ्फरपुर में कुछ समय तक प्रोफेसर भी रहे।

राजेन्द्र बाबू जब पांचवीं कक्षा में थे तभी १२ वर्ष की अल्प आयु में उनका विवाह कर दिया गया था। उस समय उन्हें विवाह के वास्तविक महत्व का कुछ भी ज्ञान नहीं था, जिसका उल्लेख उन्होंने अपनी आत्मकथा में किया है।

चम्पारन-आन्दोलन ने बिहार और राजेन्द्र बाबू का नाम अमर कर दिया है। ब्रिटिश अत्याचारों से त्रस्त नील की खेती करनेवालों की ओर से गांधी जी के नेतृत्व में चम्पारन में आन्दोलन आरम्भ हुआ। आन्दोलन सफल रहा और सरकार को घुटने टेकने पड़े। जनता को विजय मिली और गांधी जी को मिले राजेन्द्रप्रसाद, जो आगे चलकर गांधीजी के प्रमुख सहयोगी बने। स्वर्गीय श्री सत्यमूर्ति ने राजेन्द्र बाबू की प्रशंसा में लिखा था कि "भारत में उनकी कोटि के बहुत कम व्यक्ति हैं और यदि भारत के राजनीतिक जीवन का दिव्य उत्तराधिकार आवश्यक समझा जाय तो मेरा विचार है कि महात्मा गांधी का उत्तराधिकारी अगर कोई बन सकता है तो वह राजेन्द्र बाबू के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति नहीं हो सकता।"

राजेन्द्र बाबू कांग्रेस के अध्यक्ष रह चुके हैं और उसके जेनरल सेक्रेटरी के पद पर भी काम कर चुके हैं। जब आप कलकत्ता में पढ़ते थे तब वे

समय १९०६ ई० के २२ वें कांग्रेस-अधिवेशन में सम्मिलित हुए थे। राजेन्द्र बाबू ने स्वयंसेवक के रूप में उक्त अधिवेशन का कार्य किया। १९३४ ई० में सर्वसम्मति से आप कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित किये गये। तदनन्तर जब कभी कोई कठिनाई उपस्थित हुई तो उसे दूर करने में आपका सहयोग लिया गया। त्रिपुरा-कांग्रेस के पश्चात् सभी की आंखें आपकी ही ओर लगी हुई थीं और एक लम्बे आवेशपूर्ण वाद-विवाद के अनन्तर आप कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। आप कांग्रेस महासमिति के १९१२ से और कार्यसमिति के १९२२ से निरन्तर सदस्य रहे हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् आप भारत सरकार के खाद्य-मंत्री बनाये गये। इस पद पर आपने सफलतापूर्वक कार्य किया और अपने समस्त सहयोगियों को प्रभावित किया। इस समय आप भारत के राष्ट्रपति हैं और आपको सभी का विश्वास और सम्मान प्राप्त है। राजेन्द्र बाबू को देखकर बहुत कम व्यक्तियों को यह विश्वास होगा कि वह विदेश-भ्रमण भी कर चुके हैं। वास्तविकता यह है कि उन्होंने विदेशों का बहुत भ्रमण किया है। वह जर्मनी, इटली इत्यादि बहुत देशों की यात्रा कर चुके हैं। विदेश यात्रा-काल में एक शांतिवादी सम्मेलन में राजेन्द्र बाबू ने अहिंसात्मक प्रतिरोध के विषय में भारतीय दृष्टिकोण रखना चाहा; परन्तु फासिस्ट गुण्डों ने सम्मेलन की बैठक में मार-पीट मचा दी, जिसमें राजेन्द्र बाबू को गहरी चोटें आईं।

राजेन्द्रबाबू महान् संघटनकर्ता हैं। संघटन करने की उनकी शक्ति की परीक्षा बिहार-भूकम्प के समय में हुई। कारागार में जब आप अत्यधिक अस्वस्थ हो गये तो उपचार करने के लिए मुक्त कर दिये गये। भूकम्प ने बिहार को ध्वस्त कर डाला था। पीड़ितों के करुण क्रन्दनों से आप विचलित हो उठे और अपने गिरे हुए स्वास्थ्य की ओर बिना ध्यान दिये हुए ही तन-मन-धन से सहायता-कार्य में जुट गये और भूकम्प-पीड़ितों की जो अनुसेवा की उसकी सारे देश में प्रशंसा हुई। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने

अपनी आत्मकथा में राजेन्द्रबाबू के विषय में लिखा है—"देखने में वे असली बिहारी किसान जान पड़ते हैं और जब तक उनकी सरलतापूर्ण आंखों और ईमानदारी से भरे हुए चेहरे पर ध्यान न दीजिए तब तक पहली बार की मुलाकात में वे प्रभावित नहीं करते। कोई भी व्यक्ति उनकी आंखों और चेहरे को नहीं भूल सकता। उनसे होकर सत्य झांकता है, इसमें संदेह का स्थान नहीं। आधुनिक दुनियादारी के हिसाब से वह एक देहाती, कुछ संकुचित दृष्टिकोण वाले प्रतीत होते हैं, परन्तु उनकी असाधारण प्रतिभा, उनकी निश्छल बात, उनकी कर्मठता और भारतीय स्वतन्त्रता के प्रति उनकी लगन ऐसे गुण हैं, जिनके कारण केवल उनके प्रांत में ही नहीं, बल्कि समस्त देश में लोग उनका सम्मान करते हैं। किसी भी राज्य में किसी को नेतृत्व का ऐसा भारी गौरव नहीं प्राप्त है जैसा कि बिहार में राजेन्द्र बाबू को मिला है। राजेंबाबू के अतिरिक्त ऐसे बहुत ही कम व्यक्ति हैं जिनके बारे में यह कहा जा सकता है कि गांधी जी के संदेश को उन्होंने पूर्ण रूप से अपनाया है।"

डा० राजेन्द्रप्रसाद बहुत अच्छे साथी हैं। उनके साथ रहकर आप सदैव ईमानदारी से भरी सहायता और सहयोग प्राप्त कर सकते हैं। उनके मुख पर कुछ ऐसी आध्यात्मिक कांति है जो प्रेरणा और सहायता प्रदान करती है। वह कभी भी पदों के इच्छुक नहीं रहे, परंतु ऊँचे पद उनके चरणों पर गिरते हैं और वे कर्त्तव्य समझकर उनको सँभालते हैं। वे अत्यन्त उदारहृदय और क्षमाशील हैं और विश्वास की ज्योति सदैव उनके हृदय में जलती रहती है। उनके स्वभाव में उष्णता और तीक्ष्णता का नाम एवं निशान नहीं। उन्होंने अपने गुरु महात्मा गांधी का पूर्ण रूप से अनुसरण किया है और जब कभी उनसे मतभेद भी हुआ, भी राजेन्द्र बाबू ने उनकी बात को स्वीकार किया, क्योंकि आप को यह विश्वास था कि बापू को गलती न करने की आदत है। आपने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि "मुझे विश्वास हो गया था कि बापू बहुत ही दूरदर्शी हैं। इसलिए मैंने अपने दृष्टिकोण

को उनके सामने रखना नियम वना लिया ह और यदि उन्होंने उसको मान लिया तो ठीक ही है अन्यथा मैं ही उनकी सलाह को स्वीकार कर लेता हूँ।"

डा० राजेन्द्र प्रसाद आज अपना ६५ वां वर्ष पूरा कर चुके हैं। स्वर्गीया श्रीमती नायडू ने डा० प्रसाद के विषय में लिखा था कि "वावू राजेन्द्रप्रसाद के भव्य व्यक्तित्व के वारे में स्वर्ण लेखनी को मधु में डुबोकर लिखना होगा। उनकी असाधारण प्रतिभा उनके स्वभाव को का अनोखा माधुर्य, उनके चरित्र की विशालता और आत्म-त्याग के उनके महान् गुणों ने सम्भवतः उन्हें हमारे सभी नेताओं से अधिक व्यापक और व्यक्तिगत रूप से प्रिय वना दिया है। सच्ची श्रद्धांजलि के रूप में मैं इससे अधिक क्या कह सकती हूँ कि गांधी जी के निकटतम शिष्यों में उनका वही स्थान है, जो ईसामसीह के निकट सेंट जान का था।"

आत्मकथा

मेरा ग्राम्य-जीवन

उन दिनों गांव का जीवन आज से भी कही अधिक सादा था। जीरादेई और जामापुर दो गांव हैं, पर दोनों की वस्ती इस प्रकार मिली-जुली हैं कि यह कहना कठिन है कि कहां जीरादेई खतम है और कहां से जामापुर शुरू है। इसलिए वस्ती के विचार से दोनों गांवों को साथ भी लिया जाय तो कोई हर्ज नहीं। दोनों गांवों में प्रायः सभी जातियों के लोग वसते हैं। जनसंख्या दो दो सहस्र से अधिक होगी, उन दिनों भी गांव में मिलने वाली प्रायः सभी वस्तुएँ वहां मिलती थीं। अव तो कुछ नये प्रकार की दूकानें भी हो गई हैं, जिनमें पान-वीड़ी भी विकती है। उन दिनों ऐसी वस्तुएँ नहीं मिलती थीं, यद्यपि काला तम्वाकू और खैनी विका करती थी। कपड़े की दूकानें अच्छी थीं, जहां से दूसरे गांवों के लोग और कुछ वाहर के व्यापारी भी कपड़े ले जाया

करते थे। चावल, दाल, आटा, मसाला, नमक, तेल इत्यादि वहां सब कुछ बिकता था और छोटी-मोटी दूकान दवा की भी थी, जिसमें हर्रे-बहेरा-पीपर इत्यादि की तरह की वस्तुएँ मिल सकती थीं। जहां तक मुझे स्मरण है, केवल मिठाई की कोई दूकान नहीं थी। गांव में कोयरी लोगों की बस्ती अधिक है, इसलिए साग-सब्जी भी अधिक मिलती थी। अहीर कम थे, पर आस-पास के गांवों में उनकी जनसंख्या अधिक है, इसलिए दही-दूध भी भी मिलता था। चर्खे बहुत चलते थे। गांव में जुलाहों की भी बस्ती थी, जो सूत लेकर बुन दिया करते थे। चुड़िहार चूड़ियां बना लेते। बिसाती छोटी-मोटी चीजें, जैसे टिकुली इत्यादि, बाहर से लाकर बेचते और कुछ स्वयं भी बनाते। मुसल-मानों में चुड़िहार, बिसाती, थवई (राज), दर्जी और जूलाहे ही थे। कोई शेख-सैयद नहीं रहता था। हिन्दुओं में ब्राह्मण, राजपूत, भूमिहार, कायस्थ, कोयरी, कुरमी, कमकर, तुरहा, गोंड, डोम, चमार, दुसाध इत्यादि सभी जाति के लोग बसते थे। मेरा विचार है कि सबसे अधिक बस्ती राजपूतों की ही है। उनमें कुछ तो जमींदार-वर्ग के हैं, जो पुराने खानदानी समझे जाते हैं और कुछ साधारण किसान-वर्ग के हैं। कायस्थ जीरादेई में ही पांच घर थे, जिनमें तीन तो हमारे सगे थे और दो सम्बन्ध के कारण बाहर से आकर बस गये थे।

सब कुछ प्रायः गांव में ही मिल जाता था। इसलिए गांव के बाहर जाने का लोगों को बहुत कम अवसर मिलता था। गांव में सप्ताह में दो बार बाजार भी लगता था, जहां कुछ आस-पास के गांव के दूकानदार भी अपना-अपना माल-सौदा सिर पर अथवा बैल, घोड़ा या बैलगाड़ी पर लादकर लाते थे। बाजार में मिठाई की दूकान भी आ जाती थी और जो चाहते उनको मछली-मांस भी खरीदने को मिल जाते। जिनकी आवश्यकताएँ इस प्रकार पूरी न होतीं, वे "सीवान" जाते। वहीं थाना और मजिस्ट्रेट हैं—कचहरियां हैं और दूकानें भी हैं। वह एक क़स्बा है, जो देहात के लोगों के लिए उन दिनों

बहुत बड़ी जगह की प्रतिष्ठा रखता था। मुझे स्मरण है कि गांव में बाहर से सगे-सम्बन्धियों के अतिरिक्त बहुत कम लोग आया करते थे। मौलवी साहब के यहां दो-चार महीने में एक बार एक आदमी फारसी की छोटी-मोटी पुस्तकों की एक छोटी गठरी और एक-दो बोतलों में सियाही (आजकल की ब्लू-ब्लैक रोशनाई नहीं) लिये आ जाता था। जब वह आता तो हम बच्चों के कौतूहल का ठिकाना न रहता। कभी-कभी जाड़ों में कोई नारंगी-नीबू की टोकरी लिए बेचने आ जाता तो हम बच्चे इतना प्रसन्न होते कि मानों कुछ अच्छी वस्तु मिल गयी। एक दिन ऐसा ही एक व्यक्ति आया और मैं दौड़कर मां से कहने गया। वहां से दौड़कर जो बाहर आ रहा था कि पैर में ज़ोर से किसी वस्तु की ठोकर लगी, गिर गया। ओठ में चोट आई और रक्त बहने लगा। बहुत दिनों तक उसका चिह्न था। एकबार और किसी चीज के लिए दौड़ता हुआ गिर गया था। उसका चिह्न तो आज तक दाहिनी आंख के नीचे गाल पर वर्तमान है। गांव में फल—आम और साधारण रूप से कभी-कभी बाग से केले—मिल जाते। चचा साहब जिनको हमलोग नूनू कहा करते थे, छपरे से कभी-कभी अंगूर लाया करते थे। अंगूर आज की तरह खुलेआम गुच्छों में नहीं बिका करते थे और दाम भी बहुत लगता था। गांव के लोग केवल आम और केले ही ऋतु में पाते थे।

गांव में दो छोटे-छोटे मठ हैं, जिनमें एक-एक साधु रहा करते थे। गांव के लोग उनको भोजन देते हैं और वह प्रातः-सायं घंटी-घंटा बजाकर आरती करते हैं। आरती के समय कुछ लोग जुट भी जाते हैं। कभी-कभी हमलोग भी जाया करते थे और बाबा जी तुलसीदल का प्रसाद दिया करते थे। राम-नौमी और विशेषकर जन्माष्टमी में मठ में तैयारी होती थी। हम सब बच्चे कागज और पन्नी के फूल काटकर ठाकुरबारी के दरवाजों और सिंहासन पर साटते थे और उत्सव में सम्मिलित होते थे, व्रत रखते थे और दधिकांदो के दिन खूब दही-हल्दी एक दूसरे पर डालते थे। प्रायः हर वर्ष कातिक में

कोई न कोई पंडित आ जाते जो, एक डेढ़ महीना रहकर रामायण, भागवत अथवा किसी दूसरे पुराण की कथा सुनाते थे। जिस दिन पूर्णाहुति होती थी उस दिन गांव के सब लोग इकट्ठे होते और कुछ-कुछ पूजा चढ़ाते। मेरे घर से अधिक पूजा चढ़ती, क्योंकि हम सबसे बड़े समझे जाते थे। प्रायः कथा तो मेरे ही द्वार पर हुआ करती थी। उसका सारा व्यय हमको ही देना पड़ता था। जब गांव में पंचायती कथा होती तब गांव-भर के लोग बारी-बारी से पंडित के भोजन का सामान पहुँचाते, उसमें मेरा घर भी सम्मिलित रहता। हम बच्चे तो कदाचित् ही कथा का कुछ अधिक अंश सुन पाते हों, क्योंकि मैं तो सन्ध्या होने के पश्चात् ही सो जाता। पर जब आरती होती तो लोग जगाते और प्रसादी खिला देते।

मनोरंजन और शिक्षा का एक दूसरा साधन रामलीला थी। वह आश्विन में हुआ करती थी। रामलीला करनेवाली संस्था कहीं से आ जाती और पन्द्रह-बीस दिनों तक खूब चहल-पहल रहती। लीला कभी जामापुर में होती, कभी जीरादेई में। लीला भी विचित्र होती। उसमें राम-लक्ष्मण इत्यादि जो बनते, कुछ पढ़े-लिखे नहीं होते। एक आदमी तुलसीदास की रामायण हाथ में लेकर कहता—'रामजी कहीं, हे सीता'—इत्यादि और रामजी वही दुहराते। इसी प्रकार, जिनको जो कुछ कहना होता उसे बताया जाता है और वह पीछे-पीछे उसे दुहराते जाते। लोगों का मनोरंजन इस वार्तालाप में अधिक नहीं होता, क्योंकि भीड़ बड़ी लगती और सब कारबार प्रायः १००—२०० गज के में फैला रहता। मनोरंजन तो पात्रों की दौड़-धूप और विशेषकर लड़ाई इत्यादि के नाट्य में ही होता। उत्तर में राम जी का गढ़ और दक्षिण में रावण का गढ़ बनता अथवा अयोध्या और जनकपुर बनता। जिस दिन जो कथा होती उसका कुछ न कुछ स्वांग तो होता ही। सबसे बड़ी तैयारी राम विवाह, लंकाकाण्ड के युद्ध, और रामजी के अभिषेक—गद्दी पर बैठने के दिन होता। विवाह में तो हाथी-घोड़े मंगाये जाते और

बारात की पूरी सजावट होती। लंकादहन के लिए छोटे-मोटे मकान भी बना दिये जाते जो सचमुच ज़ला दिये जाते। हनुमान,वानर और निशाचरों के अलग-अलग चेहरे होते जो उनको समय-समय पर पहनने पड़ते और हम बच्चों को सचमुच वे डरावने लगते। वानरों के कपड़े प्रायः लाल होते और और उनके सिंगार में प्रायः डेढ़-दो घण्टे लग जाते। लीला संध्या समय ४ बजे से ६ बजे तक होती। राम-लक्ष्मण साधारण लोगों की तरह नहीं चलते। उनके डग बहुत ऊँचे उठते और लड़ाई में पैंतरे देने की तो उनको विशेष शिक्षा दी जाती। जिस दिन राजगद्दी होती उसी दिन गांव जवार के लोग पूजा चढ़ाते, जो भेंट के रूप में रामजी के चरणों पर चढ़ायी जाती। लीला वालों को भोजन के अतिरिक्त नगद जो कुछ मिलता होता उसी दिन मिल जाता। दूसरे दिन फिर राम-लक्ष्मण-जानकी को शृंगार करके बड़े-बड़े लोगों के घरों में ले जाते जहां की स्त्रियां परदे के कारण भीड़-भाड़ में लीला देखने नहीं जाया करती। वहां उनकी पूजा होती और उनपर रुपये चढ़ाये जाते।

एक चीज, जिसका प्रभाव मुझ पर बचपन से ही पड़ा है, रामायण-पाठ है। गांव में अक्षर-ज्ञान तो थोड़े ही लोगों को था। उन दिनों एक भी प्राइमरी या दूसरे प्रकार के स्कूल उस गांव अथवा कहीं जवार-भर में नहीं था। मौलवी साहब हम लोगों को तीन-चार रुपये मासिक और भोजन पाकर पढ़ाते थे। गांव में एक दूसरे मुसलमान थे, जो जाति के जुलाहे थे; मगर कैथी लिखना जानते थे और मुड़कटी हिसाब भी जानते थे, जिसमें पहाड़ा, ड्योढ़ा इत्यादि मन-सेर की ठिकरी और खेत की पैमाइश का हिसाब सम्मिलित है। उन्होंने एक पाठशाला खोल रक्खी थी जिसमें गांव के कुछ लड़के पढ़ते थे। अक्षर पहचानना तो बहुत थोड़े लोग जानते, पर प्रायः प्रतिदिन संध्या के समय कुछ लोग कहीं न कहीं, मठ में या किसी

के दरवाजे पर, जमा हो जाते और एक आदमी रामायण की पुस्तक से चौपाई बोलता और दूसरे सब उसे दुहराते। साथ में झाँझ और ढोलक भी बजाते थे। वन्दना का भाग तो जब रामायण का पाठ प्रारम्भ होता तो अवश्य दुहराया जाता। इस प्रकार अक्षर से अपरिचित रहकर भी गांव में ऐसे बहुतेरे लोग थे जो रामायण की चौपाइयां जानते और दुहरा सकते और विशेष कर के वन्दना के कुछ दोहों को तो सभी प्रायः कण्ठस्थ रखते थे।

त्योहारों में सब से प्रसिद्ध होली है। उसमें अमीर-गरीब सभी सम्मिलित होते थे। बसन्तपंचमी के दिन से ही होली गाना आरम्भ होता। उसे गांव की भाषा में 'ताला उठना' कहते थे। उस दिन से होली के दिन तक जहां-तहां झाँझ-ढोलक के साथ कुछ मनुष्य एकत्र होते और होली गाते। कभी-कभी जीरादेई और जमापुर के लोगों में सामना हो जाता और एक गीत एक गांव के लोग जैसे समाप्त करते, दूसरे गांव के लोग दूसरा आरंभ करते। कभी-कभी गांव के आस-पास के दूसरे गांवों के लोग भी गोल बांधकर आ जाते और इस प्रकार का मीठा प्रतियोग बड़े उत्साह से हुआ करता। मुझे स्मरण है कि एक बार दो गाँवों में बाजी-सी लग गयी और रात-भर गाते-गाते सवेरे सूर्योदय के बाद तक लोग गाते ही रह गये, और तब उनको कहकर हटाया गया। इस गाने में जो आदमी ढोलक बजाता है उसे अधिक मेहनत पड़ती है और वह पसीने-पसीने हो जाता है। एक गांव में ढोलक बजानेवाला एक ही आदमी था। वह सारी रात बजाता रह गया। उसके हाथों में छाले पड़ गये, पर वह कहां रुकनेवाला था, गांव की इज्जत चली जाती! छाले उठे और फूट गये और इस प्रकार रात में कई बार छाले उठे और फूटे, पर उसने गांव की इज्जत नहीं जाने दी। यह बात दूसरे दिन प्रतियोगिता समाप्त होने पर ज्ञात हुई और सब लोगों ने उसके साहस की सराहना की।

होली के दिन बहुत गन्दा गाली-गलौज हुआ करता। उसमें बूढ़े और जवान और लड़के एक साथ सम्मिलित होते। गांव के एक कोने से एक गिरोह चलता जो प्रायः हर दरवाजे पर खड़ा होकर नाम ले-लेकर गालियां गाता और गन्दी मिट्टी, धूल और कीचड़ एक दूसरे पर डालता गांव के एक सिरे से दूसरे सिरे तक चला जाता। यही एक अवसर था जब बड़े-छोटे का लिहाज अचानक उठ जाता था। बड़े-छोटे केवल उम्र में ही नहीं, जाति और वर्ग की बड़ाई-छोटाई भी उठ जाती थी। चमार, ब्राह्मण और राजपूत एक दूसरे को गालियां सुनाते और एक दूसरे पर कीचड़ फेंकते। जब कोई नया आदमी साफ़-सुथरा मिल जाता तो उसकी जान नहीं बचती, मानों उसे भी कीचड़ लगा कर जाति में मिला लेना अपना कर्त्तव्य समझते थे। यह धुरखेल दोपहर तक जारी रहता। उसके बाद सभी स्नान करते और घर-घर में पूजा होती। उस दिन का विशेष भोजन पूरी-मालपुआ है। गरीब लोग भी किसी न किसी प्रकार कुछ प्रबन्ध कर ही लेते। भोजन के बाद दोपहर को गुलाल और अबीर से रंग खेला जाता। सब लोग सफेद कपड़े पहनते। उस पर लाल-पीले रंग डाले जाते, अबीर और अबरख का चूर्ण छिड़का जाता। गरी-छुहारा, पान-कसैली बांटी जाती और खूब होली गाई जाती।

मैंने सुना है कि और जगहों में लोग उस दिन शराब-कबाब का भी व्यवहार किया करते हैं पर सौभाग्य से मैंने अपने गांव में यह कभी नहीं देखा। राजपूत, ब्राह्मण, भूमिहार तो हमारे यहां शराब पीना पाप मानते हैं, कहीं-कहीं कायस्थ लोग पीते हैं; पर मेरे घर में एक बहुत पुरानी प्रथा चली आ रही है। लोगों का विश्वास है कि हमारे वंश में जो शराब पियेगा वह कोढ़ी हो जायगा। इसलिये वहां कायस्थों के घरों में भी शराब नहीं आयी। बड़ों को देख कर छोटे भी इससे परहेज करते हैं और यह बात आज तक जारी है।

जन्माष्टमी-रामनौमी की चर्चा कर ही दी है; दीवाली भी अच्छी

मनायी जाती थी। कुछ पहले ही से लोग अपने-अपने घरों को साफ़ करते। दीवारों को लीपते और काठ के खम्भों और दरवाजों में तेल लगाते। उन दिनों मिट्टी का तेल नहीं जलाया जाता था—कदाचित् मिलता ही नहीं था। सरसों, तीसी, दाना अथवा रेंड़ी का ही तेल जलाया जाता था। दीवाली में मिट्टी के छोटे-छोटे दिये जलाकर प्रायः अमीर-गरीब सब कुछ न कुछ प्रकाश अवश्य करते। बड़े लोगों के मकान पर बहुत दिये जलाये जाते, केले के खम्भे गाड़े जाते, बांस की मेहरावें बनाई जातीं, रंग-बिरंग की तसवीरें दियों से बनाई जातीं, जो देखने में बहुत सुन्दर मालूम पड़तीं। बड़े लोग तो नकशे बनाते और हम छोटे उनके बताये हुए स्थानों पर दिये रखते, तेल डालते, वत्ती जलाते। वत्ती जल जाने के पहले लक्ष्मी-पूजा होती। लक्ष्मी जी तथा तुलसी के पास वत्ती जलाने के बाद और सब जगहों में दिये जलाये जाते। दिये जल जाने के बाद कौड़ी खेलने की चाल थी। हम लोग तो नाममात्र के लिये कुछ कर लेते, पर मैंने देखा है कि कुछ लोग पैसे हारते-जीतते भी थे। दीवाली के दिन विशेष दीप की तैयारी होती, पर यों तो कातिक भर कुछ लोग तुलसी-चौतरे पर और आकाश में कन्दील लटका कर दिये जलाया करते।

दशहरा तो विशेष रूप से जमीन्दारों का त्योहार माना जाता था पर नवरात्र में कभी-कभी काली जी की पूजा हुआ करती थी, जिसके लिये मूर्ति लायी जाती और बड़े धूमधाम से पूजा होती। मैंने अपने गांव में तो काली-पूजा नहीं देखी, पर जवार में काली पूजा हुई, इसकी प्रसिद्धि सुनने पर हम बच्चे वहां दर्शन के लिये भेजे गये थे। वहां जाकर हमने काली मां, जो सच-मुच काली थी और हाथ में लाल खप्पर और खड्ग लिये हुए थी, दर्शन किया था। रामलीला में राजगद्दी और प्रायः दशहरे के दिन हमारे दादा साहब अपने साथ सब लोगों को लेकर एक छोटा-सा जलूस बनाकर निकलते और नीलकण्ठ का दर्शन करते।

इनके अतिरिक्त एक और त्यौहार था जिसमें सभी लोग सम्मिलित होते थे। वह था अनन्त चतुर्दशी का व्रत। यह भादों सुदी चतुर्दशी को हुआ करता था। दोपहर तक का ही व्रत था। दोपहर को कथा सुनने के बाद पूरी-खीर खाने की प्रथा थी और सन्ध्या को कुछ नहीं खाना होता था। सूर्यास्त के बाद पानी भी नहीं पिया जाता था। इस व्रत में हम सब बच्चे भी सम्मिलित होते। कथा समाप्त होने पर एक क्रिया होती जो बच्चों के लिये बहुत हँसी की वस्तु होती। एक बड़े थाल में एक या दो खीरे रख दिये जाते और उसमें पंडित थोड़ा जल डाल देते। सभी कथा सुनने वाले उस थाल में हाथ डालते और पंडित पूछते—क्या ढूंढ़ते हो और लोग उत्तर देते—अनन्त फल। तब फिर पंडित पूछते 'पाया' और उत्तर मिलता—'पाया'। पंडित कहते 'सिर पर चढ़ाओ' और सब लोग जल अपने सिर पर छिड़कते। यह क्रिया समाप्त होने पर सभी लोगों को अनन्त, जो सूत में चौदह गांठ देकर बताया जाता था, दिया जाता और वे उसे अपनी बांह पर बांध लेते। हम बच्चों के लिये सुन्दर रंगीन, कभी-कभी रेशम का, अनन्त पटहरे के यहां से खरीद करके आता। कोई-कोई साल-भर बांह पर अनन्त बांधे रहते थे, इसलिये वे अपना अनन्त अपने हाथों मजबूत और काफी लम्बा बनाते जिसमें वह सुभीते से बांधा जा सके। इस प्रकार जो अनन्त बांधता वह मांस-मछली नहीं खाता था। इसी प्रकार जो तुलसी की लकड़ी की माला या कंठी पहनता, वह भी मांस या मछली नहीं खाता।

कथा, रामलीला, रामायण-पाठ और इन व्रत-त्योहारों द्वारा गांव में धार्मिक जीवन सदैव जगा रहता था। इनके अतिरिक्त मुहर्रम में ताजिया रखने की भी प्रथा थी। इसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सम्मिलित हुआ करते थे। जीरादेई और जमादुर में कुछ हिन्दू ही कुछ सम्पन्न थे, इसलिये उनका ताजिया गरीब मुसलमानों के ताजिया से अधिक बड़ा और शानदार हुआ करता था। मुहर्रम-भर प्रायः रोज गदका, लाठी, फरी,

इत्यादि के खेल लोग करते और चहलुम के दिन तो बहुत बड़ी भीड़ होती। गांव-गांव के ताजिया कर्बला तक पहुँचाये जाते। सारे रास्ते में 'या अली, या इमाम' के नारे लगाये जाते और गदका इत्यादि के खेल होते। बड़ा उत्साह रहता और इसमें हिन्दू-मुसलमान का कोई भेद नहीं रहता। शीरनी और तिनौरी (भिगोया हुआ चावल और गुड़) बांटी जाती। सभी उसे लेते और खाते; पर हिन्दू लोग मुसलमानों से पानी या शर्बत छुआ कर नहीं पीते। मुसलमान भी इसे बुरा नहीं मानते। वे समझते थे यह हिन्दुओं का धर्म है, इसलिये वे स्वयं हट जाते।

जिस तरह हिन्दू मुहर्रम में सम्मिलित होते उसी तरह मुसलमान होली के शोरगुल में सम्मिलित होते। हम बच्चे दशहरा, दीवाली और होली के दिन मौलवी साहब की बनाई 'ईदी' अपने बड़ों को पढ़कर सुनाते और उनसे रुपया मांगकर मौलवी साहब को देते। ईदी कई दिन पहले से ही हम याद करते। कागज पर, मौलवी साहब की सहायता से, सुन्दर फूल बनाकर उसे लाल, हरे, नीले और बैगनी रंगों में रंगते। उसी पर मौलवी साहब सुन्दर अक्षरों में ईदी लिख देते जिसे हम लोग पढ़कर सुनाते। उनमें जो कुछ लिखा जाता वह कुछ अद्भुत सम्मिश्रण होता। जैसे, दीवाली की ईदी में लिखा होता—'दीवाले आमदे हंगाम जूला' इत्यादि; दशहरे की ईदी में लिखा जाता—'दशहरे को चले थे रामचन्दर, बनाकर रूप जोगी वो कलन्दर' इत्यादि। मुशायरे के अतिरिक्त मौलवी साहब को, प्रत्येक बृहस्पतिवार को को कुछ पैसे जुमराती के रूप में और त्योहारों पर ईदी के बदले में कुछ मिल जाया करता था।

उन दिनों गांव में मामला-मुकदमा कम हुआ करता था। जो झगड़े हुआ करते थे, गांव के पंच लोग उन्हें तय कर देते थे। अगर कोई बात पंचों के मान की न हुई, तो वह मेरे बाबा या चचा साहब के सामने पेश होती। वे लोग भी पंचायत में सम्मिलित होकर तय करा देते। हां, कभी-कभी चोरी

हो जाया करती थी। बनिया कुछ सम्पन्न थे। उनके घरों में रात को सेंध फोड़कर चोर कुछ पैसे उठा ले जाया करते। एक बार का मुझे स्मरण है कि दूसरे गांव के बाजार से लौटते समय सन्ध्या को रास्ते में डाकू ने मेरे कपड़े और पैसे लूट लिये थे। जब कभी ऐसी घटना होती, थाने से सिपाही और दारोगा पहुँचते और गांव में एक-दो दिन ठहर जाते। उनके गांव में आने पर आतंक छा जाता। सारे गांव में सनसनी फैल जाती। जिन लोगों पर सन्देह होता उनके घर की तलाशी ली जाती। दो-तीन आदमी थे, जिनके बारे में प्रसिद्ध था कि वे चोर हैं; दारोगा पहुँचते ही उनको पकड़ कर मुश्कें कस कर बांध कर गिरा देते और खूब पीटते। आस-पास के गांव के भी ऐसे लोग, जो गलत या सही चोर समझे जाते थे, इस प्रकार पकड़ कर मंगाये जाते थे, और बांध कर गिरा दिये जाते। मैंने देखा है कि इस तरह एक साथ पांच-सात आदमी बांध कर गिराये जाते थे और घण्टों तक पड़े रहते थे।

हम लोगों की छोटी-सी जमीन्दारी थी। प्रजा के साथ मुकदमे तो कम होते, कदाचित् ही कभी कचहरी में जाने की आवश्यकता पड़ती। परन्तु एक दूसरे जमीन्दार के साथ, जिनका भी हिस्सा एक गांव में था, बहुत दिनों तक कुछ जमीन के लिये मुकदमा चलता रहा। वह बाबा के समय से आरम्भ होकर पिता के समय तक चलता रहा और उनकी मृत्यु के पश्चात् भाई ने सन्धि करके उसे तय किया। नूनू छपरे जाया करते और भाई जो छपरे पढ़ने के लिये भेज दिये गये थे उनको देखते और मुकदमे की भी पैरवी करते।

मेरी योरोप-यात्रा

यह मेरी पहली विदेश-यात्रा थी। मित्रों की सलाह से मैंने सर्दी के लिये गर्म कपड़े बनवाये। मैं बराबर केवल खादी ही पहना करता था। वहां जाकर भी इस नियम को भंग करना मैंने उचित न समझा। इसलिये कश्मीरी ऊन के कपड़े ही खादी-भंडार-द्वारा मँगाकर बनवाये। कपड़े की काट-छांट भी देशी रखी। अंगरेजी पोशाक न पहिनने का ही निश्चय कर लिया। फलस्वरूप दो बातें हुई। बहुत कम खर्च में काम के लायक काफी कपड़े तैयार हो गये। पोशाक हिन्दुस्तानी थी, इसलिये उसमें कुछ भूल अथवा भद्दापन ही हो तो कोई विदेशी समझ नहीं सकता था। अंगरेजी पोशाक और रहन-सहन धारण करने पर उन लोगों के फैशन और रीति-नीति के अनुसार ही चलना-फिरना, कपड़ा पहनना और खाना-पीना पड़ता है। अपना रहन-सहन कायम रखने से यह सब झंझट दूर हो जाती है। विशेषकर मुझ जैसे आदमी के लिये यह झंझट कुछ कम नहीं है; क्योंकि मैंने कभी जीवन-भर में कपड़े और फैशन पर ध्यान ही नहीं दिया है। हमने कपड़े को शरीर गर्म रखने और लज्जा-निवारण का साधनमात्र समझा है।

अपने देश में भी मैं उन लोगों के विशेष सम्पर्क में नहीं पड़ा, जो विदेशी ढंग से रहते और खाते-पीते हैं। जाने से पहले एक दिन श्री सच्चिदानन्दसिंह ने मुझे अपने यहां अंगरेजी ढंग से टेबुल पर खिलाया था। वहां मैंने कांटे-चमच का इस्तेमाल देख लिया था। संयोग से जहाज पर मेरे कमरे में एक पारसी सज्जन थे जो विदेश से सैर करने के लिये ही जा रहे थे। उनसे तो जान-पहचान हो ही गई, पर दूसरा कोई परिचित जहाज में नहीं था। मैं स्वतः किसी से जान-पहचान करने में बहुत सकुचाता हूँ। इसलिये दो-एक दिन जहाज के किसी यात्री से मेरा परिचय नहीं हुआ। पर इतना मैं देखता था कि मेरी हिन्दुस्तानी पोशाक की ओर बहुतों की आंखें जाती थीं।

में डेक पर कुर्सी रखकर कुछ पुस्तकें पढ़ता अथवा टहलता रहता। समुद्र शांत था अतएव किसी किस्म की मतली या चक्कर ने मुझे नहीं सताया।

दो दिनों के बाद एक अंग्रेज सज्जन, जो इण्डियन मेडिकल सर्विस से पेन्शन पा चुके थे, मेरे निकट आये। वे मुझसे बातें करने लगे। मेरे खद्दर के कपड़ों और एकान्त में चुप बैठे रहने से उनकी पत्नी का ध्यान आकर्षित हुआ था। दोनों प्राणी बहुत ही अच्छे मिजाज के थे। वे गांधीजी के सम्बन्ध में कुछ जानते थे। खद्दर के सम्बन्ध में भी कुछ अखबारों में पढ़ा था। इच्छा रहने पर भी हिन्दुस्थान में गांधी जी से भेंट करने का सुअवसर उन्हें नहीं मिला। जब बातचीत से उन्हें मालूम हुआ कि गांधी जी के साथ मेरा कैसा सम्बन्ध है, तब उनकी दिलचस्पी और भी बढ़ गई। उनको यह जानकर कौतूहल हुआ कि मैं मांसाहारी नहीं हूँ। वे स्वयं भी मांसाहारी नहीं थे। यह कहकर उन्होंने मुझे चकित कर दिया कि हिन्दुस्तान में शाकाहारी होकर रहना बहुत कठिन है, क्योंकि शाकाहारी के उपयुक्त खाद्य पदार्थ यहां बहुत कम मिलते हैं। उन्होंने मुझे बतलाया कि इंगलैण्ड और तमाम योरप में ऐसे बहुतेरे रेस्तरां हैं जिनमें शाकाहारी भोजन मिल सकता है। वहां सब्जी बहुतायत से मिल सकती है—दूध और दूध से बने हुए बहुत तरह के खाद्य-पदार्थ मिल सकते हैं। पर वहां के लोग पक्के शाकाहारी हैं, वे दूध और दूध से बने पदार्थ नहीं खाते; क्योंकि वे दूध को जानवर के खून का एक परिवर्तित रूप ही मानते हैं।

रास्ते में मुझे ज्ञात हुआ कि जब तक जहाज स्वेज नहर से गुजरता है तब तक टामस-कुक-कम्पनी की ओर से ऐसा प्रबन्ध रहता है कि जो मुसाफिर चाहे, मोटर-द्वारा जाकर कैरो नगर और उससे थोड़ी दूरी पर स्फिंक्स को देख आ सकता है। मैंने यह देख आना अच्छा समझा। मेरे साथ कुछ और मुसाफिरों ने भी टामस-कुक के साथ वहां जाने का प्रबन्ध कर लिया। हम

लोग सवेरे पांच बजे जहाज से उतरकर मोटर पर कैरो चल गये। कैरो पहुँचने पर मुंह-हाथ धोने और नाश्ता करने के लिये हम एक होटल में ले जाये गये। फिर हम कैरो का अजायबघर देखने गये। वहां पिरामिडों की खुदाई से निकली चीजें सुरक्षित हैं। संग्रहालय बहुत सुन्दर है। प्राचीन मिस्र के कितने बड़े नामी और प्रतापी बादशाहों के शव (ममी), जो पिरामिडों से निकले हैं, वहां सुरक्षित हैं। अब देखने में वे काले पड़ गये हैं, पर चेहरा और हाथ-पर ज्यों-के-त्यों हैं। वे जिस महीन कपड़े में लपेट कर गाड़े गये थे, वह कपड़ा भी अभी तक वैसा ही लिपटा हुआ है। वह कपड़ा बहुत ही बारीक हुआ करता था। कहते हैं, वह भारतवर्ष से ही जाया करता था। उन दिनों यहां के निवासियों का विश्वास था कि आराम के सभी सामान यदि मुर्दे के साथ गाड़ दिये जायँ तो परलोक में भी उनसे वह आराम पा सकता है। इसी विश्वास के अनुसार, पिरामिडों के अन्दर, शव के साथ, सभी आवश्यक वस्तुयें गाड़ी जाती थीं—पहनने के कपड़े और गहने, बैठने के लिये चौकी इत्यादि, खाने के लिये अन्न, श्रृङ्गार के सामान, सवारी के लिये रथ और नाव भी। वे सब चीजें एक-से-एक अच्छी बनी हैं। उनसे ज्ञात होता है कि उस समय भी लोग सोने का व्यवहार जानते थे।

सुना है कि इसी प्रकार की खुदाई से मोहन-जोदड़ो (सिन्ध) में जो गेहूँ निकला है, वह बो देने पर उग गया। जादूघर के संग्रह और विशेषकर प्रतापी राजाओं के शव देखकर मनुष्य के जीवन की अनित्यता साफ-साफ दीखने लगी। ऐसे दृश्य देखकर यह मालूम होने लगता है कि हम जो कुछ अपने बड़प्पन के मद में करते हैं, वह सब कितना तुच्छ और अस्थायी है। जिन बादशाहों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्होंने अपने जमाने में बहुत जुल्म किया था, उनके शव उसी तरह आज भी पड़े हैं। जो वहां का इतिहास नहीं पढ़ता, उसे उनके नाम तक मालूम नहीं है। यद्यपि अजायबघर का सफर

मनोरंजन रहा तथापि मेरे दिल पर क्षणभंगुर जीवन की असारता का गहरा असर पड़ा। मैं वहां से उदास ही निकला।

म्यूजियम के बाद हम लोगों को शहर की कुछ प्राचीन और प्रसिद्ध इमारतें दिखाई गईं जिनमें एक प्रसिद्ध मसजिद भी थी। मिस्र में मुसलमान पूरब रुख मुँह करके नमाज पढ़ते हैं, क्योंकि वहां से कावा पूरब पड़ता है। यह एक हिन्दुस्तानी को कुछ विचित्र सा लगता है। वहां की मसजिदें भी इसी कारण पूरब रुख की होती हैं। वहां की भाषा अरबी है। योरपीय भाषाओं में सबसे अधिक प्रचार वहां फ्रेञ्च का है। लोग साफ-सुथरे थे। पुलिसवाले तुर्की फेज पहने हुए थे। कैरो यद्यपि पुराना शहर है, पर जिस हिस्से को हमने देखा, वह बहुत कुछ आज-कल के शहरों-जैसा ही था।

दोपहर का भोजन करके हमलोग कुछ दूर तक मोटर पर पिरामिड देखने गये। एक स्थान पर पहुँचकर मोटर छोड़ देनी पड़ी। ऊँटों पर सवार होकर पिरामिडों तक जाना पड़ा। मेरे लिये ऊँट की सवारी बिलकुल नई थी, क्योंकि मैं कभी ऊँट पर न चढ़ा था।

पिरामिडों को नजदीक जाकर देखा। ये बहुत ऊँची चौखूंटी इमारतें हैं। हमारे देश में ईंटों का पाजावा जैसा बनता है, वैसे ही ये पत्थरों के बहुत बड़े-बड़े चौरस टुकड़ों में बने हैं। पाजावे की तरह ही नीचे की चौड़ाई ज्यादा है जो ऊपर की ओर कम होती गई है। ईंटों का पाजावा छोटा होता है, पर पिरामिड बहुत बड़े और ऊंचे हैं। इनमें लगी एक-एक पत्थर की ईंट मेरे अनुमान में चार-पांच हाथ लम्बी होगी। इसी के अनुसार उनकी चौड़ाई और मुटाई भी है। एक-एक ईंट काटकर न जाने कितने दिनों में इतनी बड़ी इमारत तैयार हुई होगी। इसमें कितने गरीबों ने अपनी जिन्दगी का कितना हिस्सा लगाया होगा। और यह सब किसी एक राजा के नाम को, उसके मरने के बाद भी, कायम रखने के लिये किया गया था

नाम तो अब केवल पुस्तकों में रह गया है । ये इमारतें, जिनसे मनुष्य कोई लाभ नहीं उठा सकता, अपनी जगह पर आज भी, हजारों बरस के बाद, ज्यों-की-त्यों खड़ी हैं ।

स्फिक्स एक अजीब चीज है । मुंह मनुष्य का और शरीर जानवर का है । एक बहुत बड़ी मूर्ति उस रेगिस्तान में इसी शक्ल की बनी पड़ी है । सुनते हैं, प्राचीन काल में यह प्रश्नों के उत्तर देती थी । पर यह जो कुछ कहती थी, उसका समझना बहुत कठिन होता था । अब ये बातें तो नहीं हैं पर यह मूर्ति अवश्य उस प्राचीन काल का स्मरण कराती रहती है ।

सन्ध्या समय वापस आकर हमलोग रेल पर सवार हुए और रात के ग्यारह बजे पोर्ट सईद पहुँचे । जहाज वहां पहुँच गया था । खाना-पीना रेल ही में हो गया था, अतः हम जाकर अपने-अपने कमरे में हो सो रहे ।

भूमध्यसागर में पहुँचने पर कुछ सर्दी लगने लगी । लाल समुद्र तो बहुत गर्म था—अरब सागर से भी अधिक । भूमध्यसागर में हवा भी कुछ जोर से चलती थी, इसलिये जहाज कुछ हिलता था । इटली के निकटवर्ती सिसली टापू के पास होकर जहाज गुजरा । वहां का शहर कुछ दूर पर देखने में आया । पहाड़ साफ नजर आता था । कुछ दिन बाद हम मार्सेल्स (फ्रान्स) पहुँच गये । रास्ते में कोई विशेष बात नहीं हुई । समुद्र-यात्रा में चारों ओर पानी-ही-पानी दीखता है । दिन-रात पानी देखते-देखते एक-दो दिनों के बाद जी ऊब जाता है । अगर कहीं कोई दूसरा आदमी गुजरता हुआ जहाज नजर आ गया या जमीन देखने में आ गई, तो बहुत आनन्द होता है । सभी मुसाफिर उसे इस तरह देखने लगते हैं मानो उन्होंने कभी जमीन देखी ही नहीं है ।

मार्सेल्स में हम लोग सवेरे ही उतरे । वहां एक होटल में ठहर गये । वहां भी कुक-कम्पनी की कृपा से शहर के देखने-योग्य सभी स्थानों को देख लिया । सवेरे जहाज से उतरते ही रात को रवाना होनेवाली गाड़ी में

अपने लिये जगह मैंने ठीक करा ली थी। दिन भर घूम-घामकर रात की गाड़ी से पेरिस के लिये रवाना हो गया। पेरिस की गाड़ी वदलकर कैले पहुँचा। वहां फिर जहाज पर चढ़कर सन्ध्या होते-होते डोवर में उतर गया। डोवर से रेल में चढ़कर रात के प्रायः नौ वजे लन्दन पहुँच गया। मैं मार्च के तीसरे सप्ताह में लन्दन पहुँचा था, पर अभी काफी सर्दी थी। स्टेशन पर पहले से वहां पहुँचे हुए मित्र मिल गये। मैं सीधा उस मकान में चला गया जो पहले ले लिया गया था। वह गोल्डर्सग्रीन में था। हमलोग कुछ दिनों तक वहीं ठहरे।

लन्दन में एक मुकदमे के सिलसिले में पैरवी करने गया था। वहां मेरा कार्यक्रम यह था कि मैं अपनी आदत के मुताविक वहुत सवेरे उठता। वहां लोग सवेरे वहुत देर तक सोये रहते हैं। वे अधिकतर रात के पहले पहर में जाग कर काम करते हैं। मैं ऐसा कभी नहीं करता। जव सव लोग सोये ही रहते थे, मैं मुँह-हाथ धोकर और स्नान करके कपड़े पहन कमरे में वैठ जाता और मुकदमे के कागज पढ़ने लगता।

और लोग प्रायः ९ या ९॥ वजे तैयार होते थे। उस समय तक मैं प्रायः दो घण्टे काम कर चुका होता था। उसके वाद नाश्ता करके प्रायः दस बजे लाइब्रेरी में चला जाता। वहां कानून की पुस्तकें पढ़ने लगता। एक बजे दोपहर तक इस तरह काम करके नजदीक ही एक शाकाहारी रेस्तरां में चला जाता। वहां कुछ फल, रोटी, दूध आदि खा लेता। फिर सन्ध्या तक कोर्ट में काम करके प्रायः छः वजे वहां से वापस आता था। आना-जाना रेल से होता, जो जमीन के भीतर ही चलती है। घर पर सन्ध्या का भोजन करके शाम को कुछ देर टहलने जाता और लौट कर कुछ काम करके सो जाता। इस तरह दो महीने वीते।

यहां मैंने एक वात देखी। वह हमारे देश के वकील-वैरिस्टरों के लिये अनुकरणीय है। यह मेरा अनुभव है कि यहां के वकील-वैरिस्टर ख्याल कोई

का वह समय, जो कि पेशी में व्यय नहीं होता, प्रायः बराबर कर देते हैं। वे बार-एसोशिएशन या लाइब्रेरी में बैठकर पुस्तकें या कागज पढ़ते हैं। मुकदमे की तैयारी वे घर पर ही किया करते हैं। कोर्ट का फालतू समय तो गप-शप में ही व्यतीत होता है। पर इंगलैण्ड के वकील-बैरिस्टर अपना सारा काम लाइब्रेरी या अपने चेम्बर में ही पूरा करते हैं। वे इजलास में जज के आने से कुछ पहले ही आ जाते हैं और इजलास उठ जाने के बाद भी घण्टा दो घण्टा बैठ जाते हैं। बीच में जब मुकदमे की पेशी से छुट्टी मिलती है, काम करते हैं। वे मुकदमे के कागज भी घर में नहीं रखते। उनके विचार से घर तो घर ही है—जहां बाल-बच्चों से मिलना, बातें करना, खाना-पीना, दिल बहलाना अथवा जी चाहे तो दूसरी पुस्तकें पढ़नी चाहिये। इस तरह दिन के पूरे समय का ठीक उपयोग होता है तथा रात का और छुट्टी का समय पूरा अपना होता है।

लन्दन से छुट्टी पाकर मैं स्विट्जरलैण्ड गया। मेरी बहुत इच्छा थी कि मैं श्री रोमारोलां से मिलूं। पर उनके घर पहुँचने पर ज्ञात हुआ कि वे गर्मी के कारण काटंरीगी पहाड़ पर गये हैं। मैं वहां चला गया। रास्ता सुन्दर था। रेल ऊँचे पहाड़ पर आहिस्ता-आहिस्ता चढ़ती गई। दो दिन तक वहां रहा। बातचीत भी हुई। कठिनाई यह हुई कि मैं फ्रेंच नहीं जानता था और वे इंगलिश नहीं जानते थे। एक दुभाषिये की सहायता लेनी पड़ी। पर उसकी विद्या भी कुछ अन्दाज की ही थी।

वहां से फिर लन्दन लौट आया। वर्नवेल, न्युटाटेल, लोनान और जेनीवा शहरों को देखा। न्युटाटेल में एक आश्चर्यजनक घटना हुई। मैं वहां बाजार में घूम रहा था। एक दूकान में हाथ के बुने कपड़े बिकते थे। एक लड़की वेचने का काम कर रही थी। वह अंगरेजी भी जानती थी। मैंने हाथ के बुने कपड़े की बाबत बातचीत की और उसने मेरे कपड़ों को

देखा, तब समझ लिया कि मैं हिन्दुस्तान का रहनेवाला हूँ । मुझे यह जानकर बहुत आश्चर्य हुआ कि वह न केवल गांधीजी का नाम जानती थी वल्कि गांधी जी के सम्बन्ध में जो ग्रन्थ उसे मिल सके थे, उन्हें वह पढ़ गई थी ।

लन्दन से मैं हालैण्ड गया । वहां उन दिनों युवकों का अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हो रहा था । मैंने भी उसमें भाषण किया । सम्मेलन युद्ध-विरोधी युवकों का था । वहां से वर्लिन गया । घूम-घूम कर वर्लिन देखा । वर्लिन से लीपजिग पहुँचा और वहां एक दिन ठहरा । वहां प्रसिद्ध जल-चिकित्सक लुई कोहने से मिलने का विचार हुआ, पर ज्ञात हुआ कि मेरे पहुँचने से पूर्व ही उनकी मृत्यु हो चुकी है । फिर अपने यात्राक्रम के अनुसार म्यूनिख पहुँचा । वहां पर प्रसिद्ध सेलरहौस देखा, जहां हिटलर के भाषण हुआ करते थे । वहां का प्रसिद्ध अजायबघर भी देखा । म्यूनिख से वेनिस गया । अजीव शहर है । घर-घर में समुद्र है । नाव के सिवा दूसरी सवारी वहां नहीं चलती । पानी के वीच चट्टानें हैं, उन्हीं पर मकान वने हैं । मच्छरों की भरमार है; मसहरी में भी नींद आना कठिन है ।

वेनिस से रोम पहुँचा । वहां के सभी प्रसिद्ध स्थान देखकर मार्सेल्स के लिये रवाना हुआ । मार्सेल्स से 'मुल्तान' जहाज पर सवार हुआ और सितम्वर के दूसरे सप्ताह में वम्वई आ उतरा ।

मेरे मालवीय जी

[श्रीसीताराम चतुर्वेदी]

[चतुर्वेदी जी सुयोग्य वक्ता कुशल लेखक और उत्तम अध्यापक हैं। शिक्षा-शास्त्र के सम्बन्ध में आपने अनेक उत्तम पुस्तकें लिखी हैं। अपने छात्र-जीवन से ही आप सफल अभिनेता भी रहे हैं अतः इस समय आपने लिखे हुए कई नाटक हिन्दी संसार में भलीभाँति समादृत हुए हैं। महामना मालवीय जी के विषय में लिखा हुआ उनका यह संस्मरण साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त उच्चकोटि का है।]

समस्त जाति जिसे अपनाने को व्याकुल हो, समग्र देश जिससे ममत्व जोड़ने का हठ करता हो, समूचा विश्व जिसे परम आत्मीय मानने पर अड़ा बैठा हो, उसे 'मेरे' के परम संकुचित, नितान्त क्षुद्र और अत्यन्त स्वार्थपूर्ण घेरे में बांध छोड़ना कितनी बड़ी ढिठाई है, कितना बड़ा दुःसाहस है, कितनी बड़ी मूर्खता है यह सभी समझ सकते हैं। किन्तु फिर भी इस ढिठाई, दुःसाहस और मूर्खता के लिये न मुझे संकोच है, न भय है और न पश्चात्ताप ही है। परम संकट में पड़ा हुआ निराश्रित आर्त्त जब उस अणु-परमाणु में व्याप्त परमात्म तत्त्व को 'मेरे भगवान्' कहकर उसके परम को 'मेरे' की सूक्ष्मतम सीमा में कस डालने का दुराग्रह करता है उस समय उसके छोटे-से 'मेरे' में घिरा हुआ भगवान् सहसा वामन से त्रिविक्रम बनने लगता है और सम्पूर्ण सृष्टि का ममत्व उस एकाकी के 'मेरे' में इस प्रकार गूंजने लगता है मानो उसके 'मेरे' सहसा सबके 'मेरे' हो गये हों। उसी प्रकार यदि मैं भी उन पुण्य-श्लोक ब्रह्मर्षि को 'मेरे' कहकर अपना बताने का आग्रह करूँ तो किसी को बुरा नहीं मानना चाहिये।

अपने जीवन के अत्यन्त संक्षिप्त अतीत के उस पुण्य दिवस को मैं भुलाये नहीं भूल सकता जब सन् १९२० के किसी माङ्गल्य मास में मुजफ्फरनगर-

जनपद या युक्तप्रान्तीय-राष्ट्रीय-सभा के अधिवशन में पहली बार मैंने उन ब्रह्मवर्चस-संयुक्त तेजस्वी महापुरुष के मंगलमय दर्शन किये थे और उनकी अनन्त मधु-स्राविणी वाणी पर अपनी अवोध वाल्यावस्था में संचित सम्पूर्ण श्रद्धा-विभूति उनके चरणों में चुपचाप अर्पित कर दी थी। उसका परिणाम यह हुआ कि शनैः-शनैः एक रहस्यमयी संकल्प धारा मेरे मानस में निश्चित पथ बनाती हुई इतने प्रवल वेग से बहने लगी कि पूज्य मालवीयजी मेरे जीवन के, मेरी साधना के, मेरे विश्वास के और प्रवृत्ति के एकमात्र आलोक-दीप वन गये। इस दिव्य आलोक से मैं इतना प्रभावित हुआ कि मैं उनका प्रशंसक ही नहीं, श्रद्धालु भी वन गया, श्रद्धालु ही नहीं पुजारी भी वन गया, पुजारी ही नहीं भक्त भी वन गया।

हाई स्कूल की परीक्षा पास कर चुकने पर जव सभी लोग मुझे मेरठ कालिज में नाम लिखवाने के लिये उत्साहित कर रहे थे, उस समय माताजी के स्नेह, पिताजी के वात्सल्य, भाई-वहनों की ममता, मित्रों के सौहार्द और घर की समीपता सव पर एक विशाल महत्त्वाकांक्षा अधिकार किये वैठी थी, वह थी काशी जाने की, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पढ़ने की, विश्वविद्यालय के कुलपति के सम्पर्क में आने की। महत्त्वाकांक्षा सफल होने वाली थी; क्योंकि पूज्य पिताजी की कृपा से मैं विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हो गया। विश्वविद्यालय के साथ मेरा पैतृक सम्वन्ध भी है; क्योंकि उसकी स्थापना के लिये जो महायज्ञ हुआ था उसके होताओं में मेरे पिताजी भी थे और फिर काशी मेरी जन्मभूमि जन्मपुरी भी थी, यह भी कम आकर्षण नहीं था।

हिन्दू विश्वविद्यालय में पहुँचने पर मैं किस ऐतिहासिक क्रम से उनके समीप, समीपतर और समीपतम पहुँच गया यह मैं स्वयं नहीं कह सकता, किन्तु पहुँचकर उनका वात्सल्य-भाजन और विश्वास-पात्र वन गया, यह मैं कह सकता हूँ, और वड़े गर्व से कह सकता हूँ। कल्पना के नेत्रों से मैं देख रहा हूँ कि वे व्यासपीठ पर वैठे हैं, पलथी जमाये चारों ओर, अध्यापक, छात्र और

छात्राओं का विशाल समूह एक दृष्टि होकर उनके दर्शन कर रहा है, एकाग्र होकर उन्हें सुन रहा है। और मैं कल्पना के कोनों से अब भी सुन रहा हूँ— "विदुला का पुत्र युद्ध से लौटकर चला आया। विदुला ने पूछा—क्या विजय लेकर लौटे हो? उसने कहा—नहीं, मैं युद्ध नहीं करना चाहता, मैं व्यर्थ इतने प्राणियों का संहार नहीं करना चाहता। राज्य जाता है तो जाय। विदुला कड़ककर गरज उठी—कायर! मेरी कोख से, क्षत्रिया की कोख से जन्म लेकर तू इस प्रकार की, भगोड़ेपन की, निर्वीर्यता की बात करता है, तुझे धिक्कार है। यदि तू क्षत्रिय का पुत्र है तो जा, तत्काल चला जा युद्ध-क्षेत्र में, लड़ते-लड़ते प्राण भी दे-दे तो भी श्रेय है—

क्षणं प्रज्वलितं श्रेयं—
न च धूमायितं चिरम्।

—क्षण-भर के लिये भी भभककर जलना अच्छा है किन्तु बहुत दिनों तक धुआं देते हुए धीरे-धीरे सुलगाना अच्छा नहीं है। चला गया विदुला का पुत्र और लौटा विजय लेकर।"

मैं फिर सुन रहा हूँ उनकी वाणी। वे कहते जा रहे हैं महाभारत की कथा, और अर्जुन का प्रसंग आते ही सहसा अपने मधुर स्वर को ऊँचा उठाते हुए कहने लगते हैं—"विद्यार्थियो और विद्यार्थिनियो! अर्जुन की दो प्रतिज्ञायें थीं—न मैं दीनता के साथ किसी के आगे गिड़गिड़ाऊँगा और न पीठ दिखाकर भागूँगा। 'अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वेन दैन्यं न पलायनम्।' आप लोग भी ऐसे ही बनो। कभी किसी के आगे अपना सिर न झुकने दो और जो आवे उसे ललकार दो। उसी धारा में उपसंहार करते हुए वे कहते हैं—

सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेना विद्यया।
देशभक्त्याऽमत्यागेन-सम्मानार्हः सदा भव॥

[सत्य से, ब्रह्मचर्य से, व्यायाम से, विद्या से, देशभक्ति से, आत्म-त्याग से सदा सम्मान पाओ।]

मैं फिर देख रहा हूँ कि सन्ध्या समय विड़ला-छात्रावास में वे घूम रहे हैं। उनके साथ हैं आचार्य आनन्दशंकर, वापू भाई ध्रुवजी और उनके पीछे-पीछे चले जा रहे हैं श्री लक्ष्मणदासजी इंजीनियर। एक छात्र भीतर की कोठरी में वैठा पढ़ रहा है। वह इन्हें देखकर सकपकाकर उठ खड़ा होता है। और ये अपनी लोक-विश्रुत स्वाभाविक मुसकान के साथ कहते हैं, "अरे! इतना पढ़ते हो। वुद्धि तो वढ़नी ही चाहिये पर शरीर भी वढ़ना चाहिये। क्या करोगे वहुत वुद्धि लेकर; जब कोई आकर तुम्हें उठाकर पटक देगा। देखो एक दोहा कंठस्थ कर लो—

दूध पियो कसरत करो, नित्य जपो हरि नाम।
मन लगाइ विद्या पढ़ो, पूरे हों सव काम॥

कहो दोहे को।" वह विद्यार्थी भी दोहा कहने लगता है। आचार्य ध्रुवजी अपनी छड़ी दोनों हाथों से पकड़े हुए, उसकी गोल मूठ कन्धे पर जमाये देख रहे हैं हिन्दू-विश्वविद्यालय के कुलपति की शिक्षा-प्रणाली।

विश्वविद्यालय के दीक्षांत-समारोह के अवसर पर उनके उपदेशों की ध्वनि आजतक मैं स्पष्ट सुन रहा हूँ—"सत्यं वद। धर्मं चर स्वाध्यायान्म प्रमदः। मातृ देवो भव। पितृ देवो भव। आचार्यदेवो भव।"—और दीक्षान्त भाषण में वे कहते जा रहे हैं—"हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना इसलिये की गई है कि यहां के क्षात्र विद्या भी प्राप्त करें और साथ ही अपने धर्म और अपने देश के भी सच्चे सेवक वनें। यह विश्वविद्यालय दीनों के लिये है। यहां के द्वार सवके लि लिये खुले हुए हैं। मैं चाहता हूँ कि यहां आकर कोई लौट कर न जाय। सच्चरित्रता हमारे विश्वविद्यालय का मूल मंत्र है और यही हमारी शोभा है। केवल डिग्री देने के लिये तो वहुत-से विश्वविद्यालय वने हुए हैं। हम प्रत्येक क्षात्र को शुद्ध सात्विक, तेजस्वी और वीर मनुष्य वनाना चाहते हैं जो ईश्वर में विश्वास करे, प्रत्येक प्राणी का आदर करे, वीरता के साथ अन्याय का विरोध करे और आत्म-सम्मान के साथ, सचाई

के साथ जीविका चलाता हुआ अपना, समाज का और देश का कल्याण कर सके ।"

आज वे दिन नहीं रहे और वे मालवीयजी भी नहीं रहे—

"नैनन में जो सदा रहते—तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करें"

किन्तु उनके न रहने पर भी उनके उपदेश चिरजीवी हैं, उनके आदर्श अमर हैं, उनकी रचनायें सुचिर प्रतिष्ठित हैं। भावी जाति में दृढ़ संकल्पता, अध्यवसाय, लोक-कल्याण और आत्मत्याग की सजीव भावना भरने के लिये उनका हिन्दू विश्वविद्यालय शतशः स्वरूप लेकर उनकी अमर कीर्ति का गुणगान कर रहा है; किन्तु फिर भी मालवीयजी की स्मृति हटती नहीं है। उनकी अनुपस्थिति निरन्तर खटकती जा रही है; क्योंकि जिस आत्मभाव से विश्वविद्यालय के प्रत्येक छात्र के हृदय में, विश्वविद्यालय की ईंट-ईंट में, वृक्ष-वृक्ष में, कण-कण में वे व्याप्त थे, वह आत्मभाव कहीं देखने को नहीं मिल रहा है। यों तो राम गये और कृष्ण भी गये और फिर भी संसार चला ही जा रहा है, हँसता-खेलता, रोता-गाता, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या वह उसी प्रकार चला जा रहा जैसे चाहिये था? इसका उत्तर शुद्ध नकारात्मक है। और इसीलिये बार-बार स्रष्टा की स्मृति प्रबल होकर मानस को विक्षुब्ध किये डाल रही है, मथे डाल रही है।

पुण्यश्लोक मालवीयजी के गुणानुकीर्त्तन के लिये, उनकी सर्वतोमुखी क्रियाओं की व्याख्या के लिये उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं की सरणि बनाने के लिये जिस योग्यता की अपेक्षा होनी चाहिये उसके सर्वथा अभाव में वाणी सहसा मूक हो जाती है और 'नेति' का सीधा-सा, सरल-सा, आधार लेकर मौन रहने के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं रह जाता। वे धर्मनिष्ठ पुरुष थे आचार में भी, विचार में भी। यदि व्यासजी के अनुसार लोककल्याण को ही हम धर्म की कसौटी मान लें तो मालवीयजी की रेखा उस पर सबसे अधिक

प्रदीप्त दिखाई देगी। शिक्षा के क्षेत्र में जिन फ़ोवेल; मौन्तेसारी, रूसो; पैस्तालौजी आदि शिक्षा-शास्त्रियों की नामावली ने संसार को प्रभावित कर रखा है वे सब एकत्र होकर भी मालवीयजी तक नहीं पहुँच सकते; क्योंकि इन सबने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं उन सब का लक्ष्य सामाजिक दृष्टि से मनुष्य के बच्चे को जीने योग्य मनुष्य बना देना-भर है। किन्तु मालवीयजी की शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के बच्चे को केवल मनुष्य ही नहीं वरन् देवता बना देने का है जिसकी संसार पूजा करे, जिससे शक्ति, उत्साह और प्रेरणा का वरदान मांगे, जिसके आशीर्वाद से जीवन के सम्पूर्ण दैवी तत्त्व प्राप्त कर सके। किस शिक्षा-शास्त्री ने यह कल्पना की है? केवल मनोविज्ञान का एक झूठा ढोंग खड़ा करके अव्यावहारिक सिद्धान्तों के इन्द्रजाल में लोकवृत्ति को फँसाने का एक मोहक जाल-भर विदेशी शिक्षा-शास्त्रियों ने फैला दिया है पर वास्तव में उसमें तत्त्व कुछ नहीं, उसका परिणाम कुछ नहीं।

राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने जिस अध्यवसाय, जिस साहस और जिस आत्म-त्याग का प्रदर्शन किया है वह उनका अलौकिक कार्य है। शब्दों की शक्ति उस तक पहुँचने में भी अशक्त हो रही है। किन्तु सबसे अधिक प्रभावशाली उनका व्यक्तित्व था, वे स्वयं थे।

प्रत्येक व्यक्ति को सदा यह अधिकार था कि वह उनसे जब चाहे जाकर मिले, चाहे जितनी देर तक उनसे बातचीत करे और चाहे जिस काम के लिये उनसे पत्र लिखवा ले। और वे—अतुलित धैर्य के साथ सबकी बातें एकाग्र होकर सुनते, दुःखी के दुःख में स्वयं भी रोने लगते, और जिस प्रकार भी हो सकता उसे निराश न लौटने देते। न जाने कितनी बार ऐसा हुआ है कि केवल सहायता और लोक-कल्याण के लिये उन्होंने नियमों की भी चिन्ता नहीं की। एक बार एक छात्र इंटर की परीक्षा में एक विषय में १३ अंकों से अनुत्तीर्ण हो गया। वह विलायत डाक्टरी पढ़ने जाने वाला था, उसे प्रवेश

भी मिल गया था। किन्तु इस अनुत्तीर्णता ने उसकी सम्पूर्ण आकांक्षाओं पर पानी फेर दिया। मैंने पूज्य मालवीयजी से सब घटना कही। उन्होंने तत्काल रजिस्ट्रार को बुलाकर अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करके उस बालक को उत्तीर्ण घोषित करने की आज्ञा दे दी। रजिस्ट्रार महोदय ने कहा कि यदि यह छात्र उत्तीर्ण कर दिया जायगा तो लगभग ३६ विद्यार्थी और भी उत्तीर्ण करने पड़ेंगे। पूज्य मालवीय जी ने तत्काल कहा—"तो डरते क्या हो। करो सबको उत्तीर्ण। हमारे विश्वविद्यालय में एक भी छात्र अनुत्तीर्ण नहीं होना चाहिये।"

मनुष्यता ही उनका नियम था, और देवत्व उनका गुण था। कभी सुना करते थे:—

गायन्ति देवाः किल गीतिकानि, धन्यास्तु ये भारतभूमि भागे।
स्वर्गापवर्गास्य च हेतु भूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

[देवता लोग यह गीत गाते हैं कि वे धन्य हैं जो स्वर्ग और अपवर्ग के लिये सहायक भारतवर्ष में मनुष्य होकर जन्म लेते हैं।]

मालवीयजी भी ऐसे ही कोई देवता थे जो हम लोगों के महापुण्य के कारण यहां आये और हमें शक्ति देकर, साधन देकर, अन्तर्धान हो गये और अन्तर्धान होने के पूर्व सम्पूर्ण देश को और हिन्दू-समाज को जो उन्होंने दिव्य संदेश और आदेश दिया है, वह उनकी स्मृति को चिरस्थायी करने को अकेला ही पर्याप्त है।

यदि मैं उनसे अपने निकटतम सम्पर्क को थोड़ी देर के लिये भूल भी जाऊँ, तब भी उनके देवत्व का ध्यान करके मैं भक्त की तन्मयता से साहस, शक्ति और स्फूर्ति प्राप्त करने के लिये ही उन्हें पुकार सकता हूँ—'मेरे मालवीयजी'।

—

महामना के साथ एक दिन

(श्री रामनरेश त्रिपाठी)

[श्रीत्रिपाठी का जन्म जौनपुर जिले के कोइरीपुर नामक ग्राम में हुआ है। आप हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक, कवि तथा कहानीकार हैं। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी, फारसी, उर्दू तथा संस्कृत के अच्छे ज्ञाता हैं।]

आज भाद्रपद की पूर्णिमा है। शरद ऋतु का प्रारम्भ है। आकाश विलकुल स्वच्छ है। शाम के सात बजे हैं। चन्द्रदेव अपनी मनोहर किरणों से सृष्टि पर मादकता की वर्षा कर रहे हैं। तृण से लेकर ताड़ तक सभी श्रेणी के वृक्ष, पौवे, गुल्म, लतायें और फूल मानो सुधा पीकर तृप्त और निस्तब्ध हो गये हैं। चारों ओ शान्ति है।

चन्द्रदेव इसी रूप में प्रतिमास पृथ्वी-निवासियों के सामने आते हैं और यह विहँसता हुआ मुँह हमेशा दिखला जाते हैं। करोड़ों वर्ष हो गये, उन्होंने कभी अपना मुँह हमारी ओर से मोड़ा नहीं। उन्हें हम लाखों पीढ़ियों से देखते आते हैं, पर आज तक उनकी मिठास में कभी वासीपन नहीं आया। हमारे पूर्वजों को वे जितने प्यारे लगते थे हमको भी उतने ही लगते हैं। कैसा शाश्वत सौन्दर्य उनको मिला है।

पूर्णिमा की मनोहर रात्रि में विश्वविद्यालय का सौन्दर्य कैसा निखर उठता है, क्या कभी किसी ने देखा है? देश-विदेश के दूर-दूर के यात्री लोग पूर्णिमा की रात्रि में ताजमहल की शोभा देखने जाते हैं, पर विश्वविद्यालय का दिव्य रूप देखने की कल्पना किसी को क्यों सूझी?

यदि कोई ऐसा ऊँचा स्थान वनाया जाय जहां से सम्पूर्ण विद्यालय देखा जा सके, तो पूर्णिमा की स्वच्छ-रात्रि में उस पर खड़े होकर देखने से यह अद्‌भुत चमत्कार दिखाई पड़े विना न रहेगा कि देखते-देखते विश्वविद्यालय सिमिटते-सिमिटते एक वृद्ध हिन्दू तपस्वी की मूर्ति में परिवर्तित हो जायगा और अन्त वह मूर्ति ही आंखों के सामने रह जायगी।

आज महाराज चन्द्रिका-सिक्त रजनी में भ्रमण करने निकले। घूमते-घूमते उस सड़क पर से निकले जिसकी दाहिनी ओर राजपूताना होस्टल का शुभ्र प्रासाद पड़ता था। उस समय की शोभा अवर्णनीय थी। ऐसा जान पड़ता था कि दूर से अलकापुरी दिखाई पड़ती है।

चलती हुई मोटर पर से ऐसा मालूम पड़ता था कि छोटे-बड़े वृक्षों की आड़ में वह भूल-भुलैया-सा खेल रहा था।

महाराज कहने लगे चांदनी रात में विश्वविद्यालय बड़ा सुन्दर लगता है।

महाराज को विश्वविद्यालय की प्रशंसा सुनने को मिलनी चाहिए। इससे बढ़कर सुख शायद संसार में उनके लिये दूसरा नहीं है।

हम दोनों अपने-अपने पात्रों में उस समय के दृश्य को सुख-सुधा चुपचाप भरते हुए बंगले को लौटे।

रात फिर वही रेडियो और समाचार-पत्र और अन्त में भारतवर्ष और हिन्दू जाति के भविष्य के लिये छटपटाना।

वर्तमान युग में हिन्दू जाति के लिये ऐसी चिन्ता शायद ही किसी भारतवासी में होगी। मैंने महाराज के जीवन के बहुत अंक अब तक देख, सुन और पढ़ लिये हैं। महाराज अपने ध्यान में निमग्न थे और मैं बहुत देर तक बैठे-बैठे यह सोचता रहा कि महाराज हिन्दू जाति की सम्पूर्णता की रक्षा के लिये कहां तक आगे बढ़े हैं।

हिन्दू जाति में अछूतों के साथ जिस प्रकार का व्यवहार शताब्दियों से चला आ रहा था, यद्यपि वह घृणा-सूचक नहीं था जैसा उसे इधर कुछ वर्षों से अछूतों का पक्ष लेकर भाषण करनेवाले नेताओं ने बना दिया है। अछूतों में बहुत से सन्त हुए हैं और अब भी हैं, जिनका आदर सच्चे साधुओं के समान ही हिन्दू लोग करते रहे हैं और अब भी करते हैं।

गांव में चमार हलवाहे खुल्लम-खुल्ला कुओं में पानी भरते हैं और कोई

रोक-टोक नहीं करता। ठेले-मेले में वे सब के साथ घूमते-फिरते रहते हैं और मन्दिरों में उत्सवों के अवसर पर साथ ही दर्शन भी करते हैं। पर उनके वर्त्तनों को कुयें में नहीं जाने दिया जाता, क्योंकि वे अशुद्ध होते हैं। स्वच्छता की दृष्टि से यह आवश्यक है भी। देश काल के प्रभाव से कुछ विषयों में अछूतों के साथ हिन्दुओं की सहानुभूति नष्ट हो चली थी। उसी का परिणाम अछूत-आन्दोलन है।

हिन्दू जाति की सम्पूर्णता की रक्षा का सब से पहला प्रयत्न स्वामी रामानन्द ने किया। उनके बाद गोस्वामी जी ने अपना व्यापक प्रयोग किया। उनके बाद स्वामी दयानन्द आते हैं। स्वामी जी ने भी अछूतों के लिये मार्ग चौड़ा करने का उद्योग किया और आर्यसमाज के अन्तर्गत काम करनेवाली संस्थाओं और शुद्धि-सभाओं ने उस मार्ग पर चलकर अछूतों को न्याय दिलाया भी। स्वामी जी के बाद महात्मा गांधी ने अछूतों का प्रश्न हाथ में लिया और देश भर भ्रमण करके उन्होंने उसे अत्यावश्यक प्रश्न बना दिया।

समय और समाज की गति से पूर्ण परिचित मालवीय जी ने इस प्रश्न को अपने ही दृष्टिकोण से हल किया। उन्होंने हिन्दू समाज में परम्परागत सनातन धर्म के अन्दर ही शनैः-शनैः बढ़े हुए इस सामाजिक रोग का इलाज निकाला और वैसा ही व्यापक उसका प्रभाव भी हुआ।

उसके अनुसार सन् १९२७ में महाशिव-रात्रि के दिन काशी दशाश्वमेध घाट पर उन्होंने चारों वर्णों को ओम् नमः शिवाय, ओम् नमो नारायणः, ओम् रामाय नमः, ओम् नमो भगवते वासुदेवाय आदि मंत्रों की शिक्षा दी। ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक को उन्होंने मंत्र-दीक्षा दी थी।

इस मन्त्र-दीक्षा का यह सब से बड़ा परिणाम निकला कि हरिजन समझने लगे कि हम भी विशाल हिन्दू जाति के अंग हैं और सारा हिन्दू समाज हमारे साथ है।

महाराज ने अछूतों को यह दोहा बनाकर दिया—

दूध पियो, कसरत करो, नित्य जपो हरिननाम ।
हिम्मत से कारज करो, पूरेंगे सब काम ।।

अछूतोद्धार आन्दोलन में महाराज को जो सफलता मिली और उससे जो हर्ष उन्हें हुआ उसका उद्गार उन्हीं के शब्दों में सुनिये—

कूप खुले, मन्दिर खुले, खुले स्कूल चहुँ ओर ।
सभी सड़क जमघट खुले, नाचत है मन मोर ।।

"नाचत है मन मोर" में महाराज का जीवन साफल्य स्वयं नृत्य कर रहा है ।

आत्म-कथा

विद्यार्थी-जीवन

मैं लड़कपन में बड़ा प्रसन्न और चैतन्य रहता था । मेरे मुहल्ले में एक घुरहू साहु रहते थे, वे मुझे मस्ता कहा करते थे ।

जब मैं ५ वर्ष का हुआ, तब मेरा विद्यारम्भ कराया गया । उस समय प्रयाग में, अहियापुर मुहल्ले में कोई पाठशाला नहीं थी । लाल मनोहरदास रईस की कोठी के चबूतरे पर, जो तीन सवा तीन फुट चौड़ा और दस-पन्द्रह फुट लम्बा था, उसी पर टाट बिछाकर एक गुरुजी लड़कों को महाजनी पढ़ाया करते थे । गुरुजी कहीं पश्चिम के रहने वाले थे और वे पहाड़ा पढ़ाते थे । मैंने पहले-पहल पढ़ना वहीं से प्रारम्भ किया । वहां से हरदेवजी की पाठशाला में चला गया । उसका नाम था—धर्म ज्ञानोपदेश पाठशाला ।

पंडित हरदेव जी मथुरा के रहनेवाले थे। भागवत के अच्छे विद्वान् थे। वे गौ पालते थे और विद्यार्थियों को दूध भी पिलाया करते थे।

धर्म ज्ञानोपदेश पाठशाला सवेरे ६ बजे से शुरू होती थी। ६॥ बजे घंटा बजता, तब सब लड़के सभा-भवन में आ जाते थे। जब सब जमा हो जाते, तब कोई एक विद्वान् या ऊपर की श्रेणी का कोई विद्यार्थी पंडितजी के आदेश के अनुसार कोई एक श्लोक पढ़ाता था। उसके एक-एक टुकड़े को सब विद्यार्थी दुहराते जाते थे। इस प्रकार सब विद्यार्थियों को मनुस्मृति, गीता और नीति के कितने ही श्लोक कंठ हो गये थे। मुझे कुछ श्लोक और स्तोत्र पिताजी ने याद करा दिये थे। आजतक मेरे मूलधन की पूंजी वही है।

पंडित हरदेवजी संगीत के भी प्रेमी थे। पहले उन्होंने एक अक्षर-पाठशाला भी खोली थी। उनका अभिप्राय था कि कोई बालक निरक्षर न रहे। उसी पाठशाला का नाम पंडितजी ने बाद में धर्म ज्ञानोपदेश पाठशाला रक्खा। धार्मिक शिक्षा की ओर गुरुजी का अधिक ध्यान था। साथ ही साथ शारीरिक बल बढ़ाने की शिक्षा भी वे देते थे। पाठशाला में वे कुश्ती भी लड़वाते थे।

हरदेवजी की पाठशाला में संस्कृत, लघुकौमुदी आदि पढ़ता था। यह पाठशाला अब मेरे मकान के पास दक्षिण की ओर है और हरदेवजी की पाठशाला के नाम से प्रसिद्ध है। यह पाठशाला अब तक स्थित है और इसमें संस्कृत कालेज की आचार्य परीक्षा के लिये विद्यार्थी तैयार किये जाते हैं। प्रान्तीय संस्कृत पाठशालाओं में उसका स्थान ऊँचा है।

आठ वर्ष की अवस्था में मेरा यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। पिताजी ही ने गायत्री-मंत्र की दीक्षा दी थी।

शायद सन् १८६८ में गवर्नमेंट हाई स्कूल खुला। मेरी इच्छा अंग्रेजी पढ़ने की हुई। माताजी से आज्ञा लेकर मैं स्कूल में भरती हो गया। उस समय फीस बहुत कम लगती थी। मेरे भाई को तीन आने देने पड़ते थे और मुझे डेढ़ आने।

घंटाघर के पास जिस मकान में आजकल चुंगी घर है, उसी में हाई स्कूल था। उसमें ग्यारह क्लास थे। दो-दो सेक्शन थे। ग्यारहवें क्लास के दूसरे सेक्शन में मैं भरती हुआ था। बड़े भाई जयकृष्ण (पं० कृष्णकान्त मालवीय के पिता) को हेडमास्टर साहव कहते थे कि इतने इतने छोटे वच्चे को स्कूल में क्यों लाते हो? पंडित जयकृष्ण मुझसे ६ वर्ष वड़े थे। मैं उन्हीं के साथ स्कूल जाया करता था।

अंग्रेजी शुरू करने के वाद संस्कृत में मैं कम ध्यान देने लगा, तव मेरे चाचा ने मेरी मां से कहा—इसको अंग्रेजी पढ़ने में क्यों लगा दिया है? संस्कृत पढ़ता तो वड़ा पंडित होता। मुझ पर इसका प्रभाव पड़ा और मैं स्कूल और कालेज तक संस्कृत पढ़ता चला गया।

स्कूल में मैं पानी नहीं पीता था। प्यास लगती तो घर जाकर पी आता था। एक दिन मौलवी साहव ने छुट्टी देर से दी। प्यास वहुत लगी थी। घर गया तो रोता हुआ गया। मां से शिकायत की कि मौलवी साहव ने छुट्टी नहीं दी और प्यास के मारे मुझे वड़ी तकलीफ हुई, मैं अव स्कूल नहीं जाऊंगा। उसी समय मेरे ताऊ पंडित लीलाधर, जो मेरी वातें सुन रहे थे, वहीं आ गये। उन्होंने मेरी पीठ पर एक थप्पड़ दिया और वुड़क कर कहा—जाओ स्कूल। नहीं जायँगे। क्यों नहीं जाओगे?

मैं विना पानी पिये ही, रोता हुआ, उलटे पांव लौट गया। तव से पानी की व्यवस्था स्कूल ही में की गयी। एक लोटा रक्खा गया। नन्हकू कहार लोटे को मांज कर अलग रखता थो। मुझे प्यास लगती तो उसी से पानी पिया करता था।

जव मेरी अवस्था १५ वर्ष की हुई, तव से मैं घर में रखी हुई पोथियों के वेठन खोलने और वांधने लगा। वीच-वीच में पोथियां पढ़ता भी रहता था। कुछ पोथियां खराव भी हुई होंगी, पर उनमें से मैंने वहुत से श्लोक कंठ कर लिये थे। उन पोथियों में 'इतिहास समुच्चय' नाम की एक थी, पोथी

जिसमें महाभारत के चुने हुए ३२ इतिहास हैं। मेरे धर्म-सम्बन्धी विचारों और ज्ञान के बढ़ाने में यह पुस्तक बड़ी सहायक हुई।

स्कूल में भरती होने के बाद भी पाठशाला में जाना नहीं छूटा था। पाठशाला में एक पंडित ठाकुरप्रसाद दूबे थे। वे भागवत के बड़े विद्वान् थे। वे विद्यार्थियों को संस्कृत के श्लोक सिखाया करते थे। वे ऐसा शुद्ध उच्चारण करते थे कि उनके उच्चारण को सुनकर हम लोग शायद ही कभी अशुद्ध लिखते हों।

१६ वर्ष की अवस्था में मैंने एंट्रेंस पास किया।

संस्कृत की जो शिक्षा मुझे प्राप्त हुई है, वह मेरे चचेरे भाई पंडित जयगोविन्द के अनुग्रह से हुई है। एंट्रेंस पास कर लेने पर मैंने उनसे सम्पूर्ण 'काशिका' पढ़ी। परन्तु फिर उसे दोहराया नहीं। अपने चाचा श्री पंडित गदाधर जी से मैंने भागवत पढ़ी या नाटक, ठीक याद नहीं। पंडित गदाधर जी संस्कृत के बड़े विद्वान् थे। उन्होंने पहले-पहल 'वेणी संहार' का भाषा में अनुवाद किया था। बाद में प्रबोध-चन्द्रोदय, शुक्र-नीति, मृच्छ-कटिक और प्रचण्ड कौशिक का भी अनुवाद उन्होंने किया। वे बहुत अच्छी हिन्दी लिखते थे।

मेरा विवाह मिर्जापुर के पंडित नन्दराम जी की कन्या से १६ वर्ष की अवस्था में हुआ था। मेरे चाचा पंडित गदाधर प्रसाद जी मिर्जापुर के गवर्नमेन्ट हाई स्कूल में हेड पंडित थे। मैं प्रायः छुट्टियों में उनके पास जाया करता था। एंट्रेंस पास होने के बाद मैं एक बार मिर्जापुर गया था। तो पत्नी के मोह से, पर एक धर्म-सभा का अधिवेशन हो रहा था उसमें चला गया। एक महन्त सभापति थे। कई वक्ताओं के बोल चुकने के बाद गदाधर चाचा से पूछ कर मैंने भी धर्म-विषय पर भाषण किया। उसकी बड़ी प्रशंसा हुई। लोग पीठ ठोंकने लगे। तब से मेरा उत्साह बहुत बढ़ गया।

धार्मिक भावों की ओर मेरा झुकाव लड़कपन ही से था। स्कूल जाने के पहले मैं रोज हनुमान जी का दर्शन करने जाता था।

लोकनाथ महादेव के पास मुरलीधर चिमनलाल गोटेवाले के चबूतरे पर पिताजी कथा बांचने जाते थे। मुट्ठीगंज के मन्दिर में भी वे कथा कहने जाया करते थे। मैं दोनों कथायें सुनने के लिये नित्य जाता था और उनकी चौकी के पास बैठ जाता था और बड़े ध्यान से कथा सुनता था। पिताजी ने एक दिन कहा—'तू बड़ा भक्त है'। यह सुन कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई थी।

मैं गायत्री का जप बहुत किया करता था। एक बार घर वालों को शंका हुई कि मैं साधु न हो जाऊँ और वे मेरी निगरानी रखने लगे।

एंट्रेंस पास करने के बाद मैं म्योर सेंट्रल कालेज में पढ़ने लगा। कालेज में एक 'फ्रेंड्स डिबेटिंग सोसायटी' थी। उसमें मैंने पहली स्पीच अंग्रेजी में दी। वह इतनी अच्छी समझी गयी कि इंस्टीट्यूट के सेक्रेटरी लाला सांवल दास ने मेरी पीठ ठोंकी और बड़ी प्रशंसा की। लाला सांवलदास बाद को डिप्टी कलक्टर हो गये और अवकाश ग्रहण करने के बाद वे रेवेन्यु मेम्बर के पद पर कुछ समय तक काम करते रहे। बच्चा जी (लाला मनमोहनदास, इलाहाबाद के एक रईस) के बगल में कोठी है।

जब मैं कालेज मे पढ़ता था, तब उन दिनों माघ-मेले के सरकारी प्रबन्ध से हिन्दू लोग बहुत असन्तुष्ट थे। पंडित आदित्य राम भट्टाचार्य कालेज में संस्कृत के प्रोफेसर थे। लोक-सेवा के कार्यों में मेरी रुचि देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। वे मुझ पर बहुत कृपा रखते थे। जीवन-भर वे मुझ पर पुत्र का-सा स्नेह रखते रहे। मैं भी उनसे गुरु के योग्य भक्ति-युक्त बर्ताव रखता था। उनसे मुझे जन-सेवा में भाग लेने के लिये बड़ा प्रोत्साहन मिला। उन्होंने प्रयाग में 'हिन्दू-समाज' नाम की एक सभा सन् १८८० में स्थापित की

और मैं उस सभा में जाने लगा । उन्होंने हिन्दुओं की एकता के सम्बन्ध में एक बड़ी ही सुन्दर अपील तैयार की थी ।

जब मैं बी० ए० पास हुआ, तब घर में ग़रीबी बहुत थी । घर के प्राणियों को अन्न-वस्त्र का भी क्लेश था । मामूली-सा घर था । घर में गाय थी । मां अपने हाथ से उसकी सानी चलाती और उसका गोबर उठाती थी । स्त्री आधा पेट खाकर संतोष कर लेती थी और फटी हुई धोतियां सीकर पहना करती थी । मैंने बहुत वर्षों बाद एक दिन उससे पूछा—तुमने कभी सास से खाने-पहनने के कष्ट की शिकायत नहीं की ? स्त्री ने कहा—शिकायत करके क्या करती ? वे कहां से देतीं ? घर का कोना-कोना जितना वे जानती थीं उतना ही मैं भी जानती थी । मेरा दुःख सुनकर वे रो देती, और क्या करतीं ?

बी० ए० पास होने के बाद मेरी बड़ी इच्छा थी कि बाबा और पिता के समान मैं भी कथा कहूँ और धर्म का प्रचार करूँ । किन्तु घर की ग़रीबी से सब प्राणियों को दुःख हो रहा था । उन्हीं दिनों उसी गवर्नमेंट स्कूल में, जिसमें मैं पढ़ा था, एक अध्यापक की जगह खाली हुई । मेरे चचेरे भाई पंडित जयगोविन्द जी उसमें हेड पंडित थे । उन्होंने मुझसे कहा कि इस जगह के लिए कोशिश करो । मेरी इच्छा धर्म-प्रचार में अपना जीवन लगा देने की थी । मैंने नाहीं कर दी । उन्होंने मां से कहा ।

मां मुझसे कहने के लिये आई । मैंने मां की ओर देखा । उसकी आंखें डबडबा आयी थीं । वे आंखें मेरी आंखों में अब तक धँसी हैं । मेरी सब कल्पनायें मां के आंसू में डूब गयीं और मैंने अविलम्ब कहा—"मां, तुम कुछ न कहो; मैं नौकरी कर लूंगा । जगह ४० रु० महीने की थी । मैंने इसी वेतन पर स्कूल में अध्यापक की नौकरी कर ली ।

स्वास्थ्य के खम्भे

स्वास्थ्य के तीन खम्भे हैं। आहार, शयन और ब्रह्मचर्य। तीनों का युक्ति पूर्वक सेवन करने से स्वास्थ्य अच्छा रहेगा। मैंने वह आहार किया है, जो राजा-महाराजाओं को भी दुर्लभ है। राजा-महाराजा नौकर के हाथ का बनाया भोजन पाते हैं, जो प्रेम से नहीं, बल्कि वेतन लेकर भोजन बनाते हैं। मैंने बालकपन से लेकर युवावस्था के अन्त तक माता, सास, बहन और साली के हाथ का भोजन पाया है, जो प्रत्येक दिन मेरी रुचि का स्वादिष्ट भोजन बड़े प्रेम से बनाती और बड़े प्रेम से खिलाती थीं।

लड़कपन में माता मुझे आध पाव ताजा मक्खन रोज खिलाती थीं। सवेरे मोहनभोग खाने को मिलता था। एक डाक्टर ने कहा था कि अधिक मक्खन खाना व्यर्थ है, क्योंकि वह थोड़ा ही पचता है, शेष यों ही निकल जाता है। माता ने कहा—तुम डाक्टर को कहने दो; तुम एक छटांक मक्खन और एक सेर दूध रोज लिया करना। तब से अब तक मैं मक्खन और दूध उसी परिमाण में रोज लेता हूँ जैसे माता ने बताया था।
